

1. पाप कर्मों में जकड़ी हुई आत्मा

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिए हो.....

आत्मा के अनादिकालीन मल को हटाने की विधि का ज्ञान भव्य जन को होना चाहिये। जब तक इस लगे हुए मल की अवस्था को हटाने की सही विधि का ज्ञान नहीं होता है तब तक वह कितना ही प्रयत्न क्यों नहीं करें, वह आत्म-शुद्धि नहीं कर सकता है। यह हो सकता है कि किसी का धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा नाम हो जाय लेकिन वीतराग देव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसरण के बिना, वह नामवर व्यक्ति भी अपनी आत्मा को निर्मल नहीं बना सकता है।

भगवान् ने भव्य जनों को समाधान दिया है कि आत्मा जिस रूप से पाप कर्मों में जकड़ी हुई है, उसको दृष्टि में रख कर ऐसा पुरुषार्थ करने की अपेक्षा है कि जिससे ये सारे पाप कर्म हट जावें। आत्मा को ये पाप कर्म इसी के अशुभ विचार एवं अशुभ आचरण से बधते हैं। पाप कर्मों को हटाने का पुरुषार्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो इन पाप कर्मों के सन्दर्भ में इनकी आलोचना करें तथा दूसरी ओर इनके प्रति प्रायश्चित्त किया जाय। यहां आलोचना का अर्थ होता है कि जो दोष-वृत्ति आत्म-व्यवहार में लगी हुई है उसको समझना, देखना तथा प्रकट करना। आलोचना आत्मा ही आत्मा की करती है कि मैंने किस प्रकार जीवन में दोष ग्रहण किये तथा किन-किन भावनाओं के परिणाम-स्वरूप आत्मा पाप कर्मों में जकड़ी ?

आत्मिक रोगों की आध्यात्मिक चिकित्सा:

जैसे एक रोगी अपने सभी रोगों की कहानी खुले दिल से एक डॉक्टर को सुना देता है और वह ऐसा करता है तभी वह डॉक्टर उसकी सही चिकित्सा भी कर सकता है। चिकित्सा सही होती है तो रोगी अत्यल्प समय में नीरोग भी बन सकता है। एक डॉक्टर शारीरिक रोगों की चिकित्सा करता है, लेकिन वही डॉक्टर आत्मिक रोगों के सन्दर्भ में क्या कर सकेगा? आत्मिक रोगों के लिये तो आध्यात्मिक चिकित्सा की आवश्यकता होगी।

शरीर विज्ञान को जानने वाला डॉक्टर इन आत्मिक रोगों की चिकित्सा क्यों नहीं कर सकता है? क्योंकि न तो उसने आत्मा का विज्ञान जाना और न ही उसने आध्यात्मिक चिकित्सा की विधि सीखी। यह चिकित्सा पद्धति आत्म-चिन्तन एवं अनुभव की वस्तुस्थिति होती है। इस विधि को हृदय में इस तरह जमानी पड़ती है कि स्वयं आत्मा ही अपनी चिकित्सा करने में समर्थ बन जाती है। शारीरिक चिकित्सा से मानसिक चिकित्सा पद्धति काफी गहरी होती है लेकिन आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति के सामने मानसिक चिकित्सा पद्धति भी सामान्य-सी पद्धति रह जाती है जो अपूर्ण होती है। इस आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति का जो विवेचन वीतराग देवों ने किया है, वह अनुपम है।

वीतराग देवों ने इस आत्मा के रोगों का यह निदान किया है कि यह आत्मा पाप कर्मों से जकड़ी हुई है और ये पाप कर्म ही उसको अपार कष्टों में फंसाते तथा संसार के जन्म-मरण के चक्र में घुमाते हैं। यह पाप कर्मों का मैल इस आत्म-स्वरूप पर इतना गहरा चढ़ गया है कि उसका असली रूप तो ढक-सा गया है, लेकिन यदि यही आत्मा एक बार संकल्प करले कि इस सारे मैल को धो डालना है तथा निज-स्वरूप को चमका देना है तो वह इन बंधे हुए पाप कर्मों को अपने पुरुषार्थ से क्षय कर सकती है।

आत्मा का सबसे बड़ा रोग पाप क्यों है? यह पाप आत्मा को गुप्त रूप से छिप कर अशुभ प्रवृत्तियों में लगने के लिये उकसाता है। आत्मा यह जानती है कि अमुक कार्य अशुभ हैं तथा नहीं किया जाना चाहिये लेकिन अशुभ वृत्तियों के वशीभूत होकर वह उनको छिप कर करती है। मन में एक भय के साथ जो कार्य गुप्तरूप से किया जाता है, वह अधिकांशतः पाप कार्य होता है। पाप के लिये मन में हर वक्त एक खटक रहती है-एक शूल-सा चुभता रहता है कि

अमुक कार्य मैंने छिप कर किया है, अब उसका क्या परिणाम होगा? यह शूल जब ज्यादा चुभने लगता है तो बुद्धि का सन्तुलन बिगड़ जाता है और तब वह अपने सामान्य कार्य भी सही विधि से करने में अक्षम हो जाती है। ऐसी अक्षम अवस्था में आत्मा के रोग बढ़ते जाते हैं और यह आत्मा जितने अंशों में रुग्ण बनती जाती है, वास्तव में उतने ही रूप में आध्यात्मिक चिकित्सा की आवश्यकता अनिवार्य बनती जाती है।

रुग्ण आत्मा तो उद्धिग्न मन, और उद्धिग्न मन तो

आत्म-शुद्धि कहां:

एक रुग्ण आत्मा पाप कार्य में प्रवृत्ति करती है तो उस प्रवृत्ति की गोपनीयता से उसका मन उद्धिग्न बनता है और वह पाप कार्य जितना जटिल होता है उतनी ही वह उद्धिग्नता भी विषय बन जाती है। मन जहां उद्धिग्न बना रहता है, वहां कोई शुभ प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है क्योंकि उसके लिये मन की एकाग्रता की जरूरत होती है। एकाग्र मन नहीं, शुभ-प्रवृत्ति नहीं तो भला आत्म-शुद्धि फिर कैसे हो सकेगी?

गृहस्थाश्रम में भी आप दृष्टि दौड़ावें तो कई तरुण ऐसे मिलेंगे, जिनमें आयु के अनुसार शक्ति है लेकिन वे अपने जीवन में कोई व्यवस्था नहीं पकड़ पाते हैं-कई ऐसे छात्र मिलेंगे जो यही तरीके से विद्याध्ययन नहीं कर पाते हैं। जानते हैं, ऐसा क्यों होता है? क्योंकि उनका मन उद्धिग्न होता है। पाप कार्य चाहे छोटा ही हो लेकिन चूंकि छिप करके किया जाता है, इस कारण उसकी प्रतिक्रिया सामान्यतया ज्यादा तीखी होती है। उस तीखी प्रतिक्रिया से मन की गति सन्तुलित नहीं रहती है। इस असन्तुलन से मन की उद्धिग्नता बढ़ती रहती है और वैसी दशा में कोई भी शुभ-कार्य अथवा आत्मशुद्धि का कार्य, व्यवस्थित विधि से नहीं बन पड़ता है।

मन की इस उद्धिग्नता को मिटाने का मनुष्य प्रयास भी करता है, लेकिन वह उसकी सही विधि को जल्दी से पकड़ नहीं पाता है। वह अपने जीवन की मूल प्रवृत्तियों को समझे बिना ही प्रयास करता है। कभी वह ज्योतिषियों के पास जाता है और पूछता है कि कौनसे दुष्ट ग्रह उसको कष्ट दे रहे हैं? कभी वह समुद्रशास्त्रियों के पास जाता है और अपने हाथ की रेखाओं को बता कर मन की उद्धिग्नता को मिटाने के उपाय पूछता है। लेकिन वह उसकी सही विधि को खोज नहीं पाता है। यदि इस विशेष स्थिति से उसका अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि ऐसा व्यक्ति मानसिक रूप से रोगी है। जो व्यक्ति अपने बाल्यकाल से तरुणाई में प्रवेश करते हैं तब कुसंगति के कारण कई गलत-गलत आदतों को पकड़ लेते हैं और उनके कारण वे गलतियां करते रहते हैं-छिप-छिप कर पाप कार्य करते रहते हैं, उनके जीवन में उद्धिग्नता तथा अशान्ति बढ़ती रहती है। वे नासमझी में न उन पाप कार्यों को रोक पाते हैं और न अपना शुद्धिकरण कर सकते हैं। उनको यह पता भी नहीं लगता कि उनकी वह दुर्दशा उन्हीं की अपनी गलतियों के कारण हुई है तथा हो रही है। एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति अर्ध विकसित जैसे होते हैं। कई तो इस मन की उद्धिग्नता के कारण विकसित हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनकी बुद्धि कुंठित और निरर्थक हो जाती है।

इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति अपने पूर्व में किये गये दोषों को बाहर प्रकट कर दें और वे उन्हें योग्य पुरुषों के समक्ष प्रकट करें जिससे वे मानसिक तनाव से मुक्त हो जावें। वे अपने दोष हर किसी के सामने प्रकट नहीं करें, क्योंकि कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो उन दोषों को सुन कर उनका बदला लेने की चेष्टा करते हैं और ऐसी स्थिति में उस मानसिक तनाव के बढ़ जाने की आशंका रहती है। इसलिये यह बताया गया है कि जो व्यक्ति चाहता है कि मेरा मानसिक स्वास्थ्य बना रहे और मन की उद्धिग्नता की सही चिकित्सा हो, उसे वह अपने सारे पूर्व कृत्यों को किसी विशिष्ट पुरुष के सामने निश्चल भाव से प्रकट करदे। वह सुनने वाला विशिष्ट पुरुष उसको योग्य परामर्श देकर प्रायश्चित्त करा देगा जिससे उसका मन स्वस्थ हो सकेगा। मन को स्वस्थ बना लिया तो आत्मा को स्वस्थ बना लेना फिर कठिन नहीं रहेगा। स्वस्थ मन आत्मा के स्वास्थ्य की पृष्ठभूमि बन जायगा। स्वस्थ मन पूर्व के पापों से

विलग हो जायगा तो एक-एक करके आत्मा के रोगों को दूर करने में सचेष्ट बन जायगा। स्वस्थ मन ही आत्म-शुद्धि का प्रधान कारण बन सकता है।

प्रायश्चित्त में डूब कर मन का स्वरूप निखर उठता है:

जब किसी व्यक्ति का मन पूरी आन्तरिकता के साथ अपने दोषों को प्रकट करके दूर करने के लिये उत्सुक हो तथा सुनने वाला पुरुष गम्भीर और हिताकांक्षी हो तो वैसा व्यक्ति सच्चा प्रायश्चित्त करके अपने मन के स्वरूप को निखार सकता है। पाप करने वाला व्यक्ति अपना निकृष्ट से निकृष्ट कृत्य जब दिल खोल कर सुना देता है तो सुनने वाले विशिष्ट पुरुष के हृदय में भी उसके प्रति आदर उत्पन्न हो जाता है। वह प्रायश्चित्त एवं आत्म-शुद्धि की वास्तविक अवस्था होती है। वह सुनने वाला पुरुष उसके मन की पवित्रता से प्रभावित हो जाता है कि यह व्यक्ति कितनी वेदना के साथ अपने पापों की आलोचना कर रहा है। इस प्रकार की गरिमा जब आलोचना करने वाले व्यक्ति के प्रति आलोचना सुनने वाले के मन में पैदा होती है, तभी वास्तव में वह उसकी सारी बात को गम्भीरता से सुनकर उसको प्रायश्चित्त देने के योग्य कहलाता है। ऐसे ही भावप्रवण प्रायश्चित्त में डूब कर एक पापी के मन का स्वरूप निखर उठता है।

किन्तु यदि पाप करने वाला व्यक्ति यह सोचे कि मेरे से ऐसा भयंकर पाप हो गया है, जिसे मैं पूरी तरह से प्रकट नहीं करूँ याने कि वह कुछ अंश प्रकट करता है और कुछ अंश दब्बा देता है तो उसकी आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकेगी। उसकी जो कुछ शुद्धि होती है, वह भी अस्थायी ही रहती है। आत्म-शुद्धि के मामले में छल काम नहीं देता है। सरल मन से सारा पाप यथावत् प्रकट कर देने से ही पाप धुलता है और पाप के धुलने पर ही समूची शुद्धि हो सकती है। ऐसी अवस्था में ही मन मस्तिष्क पूरी तरह से शान्त बन सकता है। मन की दोलायमान दशा समाप्त हो जाती है, तभी जीवन में आगे बढ़ने की निर्भयता प्राप्त होती है। इसलिये पाप को सुनाने वाला निश्चल हो तो सुनने वाला भी उदात्त गम्भीर होना चाहिये, वरना दोनों के लिये विपरीत प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हो सकती हैं, जो हो सकता है कि दोनों के जीवन को अधिक विकृत बना दें। आलोचना के समय इस सम्बन्ध में पूरी सतर्कता आवश्यक है।

यह आध्यात्मिक चिकित्सा कराने वाले रोगियों का वर्णन है कि किस प्रकार पाप कर्मों में जकड़ी हुई आत्माएं अपने को पापमुक्त बना सकती हैं? शास्त्रों में बताया गया है कि आलोचना करने वाले और आलोचना सुनने वाले दोनों में दस गुणों की विद्यमानता होनी चाहिये, तभी आलोचना का सही प्रसंग बनता है। आलोचना सुनने के बाद वह कैसा प्रायश्चित्त देता है और आलोचना करने वाले के मन में कैसी भावना पैदा होती है-यह बड़ा रोचक विषय है।

प्रायश्चित्त देने व लेने में समभाव की स्थिति:

कभी-कभी यह होता है कि किसी ने पाप किया और उसको प्रायश्चित्त के तौर पर दण्ड दिया गया। प्रायश्चित्त देने वाला विभिन्न आलोचकों को अलग-अलग दण्ड देता है तब प्रायश्चित्त लेने वाला यह सोच बैठता है कि दण्ड देने में मेरे साथ पक्षापात कर दिया है तो प्रायश्चित्त अपने वांछित रूप में सफल नहीं हो पाता है। एक उदाहरण से इसको समझें। दो व्यक्तियों ने अपनी-अपनी आलोचना एक विशिष्ट पुरुष को सुनाई। समझें कि दोनों ने एक सा ही पाप कृत्य किया था लेकिन दोनों के भावों में बड़ा अन्तर था। भावों के अनुसार एक व्यक्ति बहुत बड़ा पापी था तो उसको कठोर प्रायश्चित्त दिया गया और भावों ही के अनुसार समान कृत्य होते हुए भी दूसरे का पाप हल्का था तो उसको हल्का प्रायश्चित्त दिया गया। एक बहुत बड़ा धर्म या साधक कहलाने वाला है, लेकिन आलोचना करते हुए भी अपने छल और कपट को नहीं छोड़ता है तो उसको कठोर दण्ड देने की जरूरत होती है। प्रायश्चित्त देने वाला पुरुष तो भावों के अनुसार दण्ड देता है, परन्तु यदि प्रायश्चित्त लेने वाला उस अभिप्राय को नहीं समझता है तो वह अपने मन को ज्यादा बिगाड़ देता है। इसलिये प्रायश्चित्त देने वाले और लेने वाले दोनों में वास्तविक रूप में समभाव की स्थिति होनी चाहिये, तभी सच्चा प्रायश्चित्त हो सकता है। वह ध्यान में रखिये कि सच्चे प्रायश्चित्त के बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती है।

एक समय का प्रसंग है। एक राजा के सामने तीन अपराधी प्रस्तुत किये गये। तीनों ने भयंकर पाप किया था जिससे जनता में तहलका मचा हुआ था। जनता सोच रही थी कि तीनों को फांसी के तख्ते पर भेजा जायगा, किन्तु दण्ड देने की सही विधि भावों के अनुसार चलती है। राजा ने पहले अपराधी को अपने पास बुलाया, उसकी सारी बात सुनी तथा उसके कान में आगे से ऐसी गलती नहीं करने का निर्देश देकर उसको छोड़ दिया। फिर दूसरे अपराधी को बुलाया, सारी बात सुनी और राजा ने उसको थोड़ासा जोर से डांटा। राजा ने कहा कि उसके अपराध के लिये बड़ा दण्ड दिया जा सकता था, लेकिन इस वक्त उसको चेतावनी देकर ही छोड़ा जा रहा है। तीसरे अपराधी को बुलाया तथा सारी बात सुनकर आदेश दिया कि इसके कपड़े बदल कर मुंह काला किया जाय और गधे पर बैठाकर सारे नगर में घुमाया जाय। यह भी एलान किया जाय कि यह भयंकर पापी है-ऐसे पाप कोई नहीं करे। फिर आजीवन कारावास भुगतने के लिये इसको कारागृह में बन्द कर दिया जाय।

जनता में आश्चर्य फैल गया कि एक ही अपराध के तीनों अपराधियों को ऐसा अलग-अलग दण्ड कैसे दिया गया है? इसमें क्या भेद है? लोगों में काना-फूसी बढ़ने लगी तो बात राजा तक पहुंची। राजा ने दो मुखियों को बुलाया और कहा कि यदि आपको इस दण्ड का भेद जानना है तो तीनों अपराधियों से मिल कर यहां पहुंचें। वे पहले अपराधी के घर पर गये तो पता लगा कि वह राज-दरबार से आते ही इतना प्रायश्चित्त कर रहा था और लज्जा अनुभव कर रहा था कि मर जाए तो अच्छा। उसी प्रायश्चित्त में वह कब घर और नगर से कहां चला गया है-इसका कुछ पता नहीं। तब वे दूसरे अपराधी के घर पर पहुंचे। वहां वह अपराधी रो-रो कर प्रायश्चित्त कर रहा था कि उससे वह पाप कैसे हो गया? वह किसी को अपना मुंह दिखाना नहीं चाहता था और इसीलिये गांव छोड़ कर दूसरे गांव में बसने को सोच रहा था। तीसरा अपराधी तो कारागृह में था, लेकिन उसके घरवालों से पूछा तो उन्होंने कहा कि जब उसको गधे पर घुमाया जा रहा था तब भी वह बेशर्मी से हंस रहा था और कह रहा था कि कारागृह में वह मोज उड़ायागा।

जब वे दोनों मुखिया राजा के पास वापिस पहुंचे तो कहने लगे-महाराज, आपने तीनों को जो अलग-अलग दण्ड दिये, वे सर्वथा उचित थे। आपने उन तीनों के मन की वास्तविक परीक्षा कर ली। आलोचना सुनने वाले और प्रायश्चित्त देने वाले विशिष्ट पुरुष का वास्तव में ऐसा ही चरित्र होना चाहिये क्योंकि आलोचना करने अथवा प्रायश्चित्त लेने का मूल उद्देश्य ही यह होता है कि पापी का पाप छूट जाय और उसकी आत्म-शुद्धि हो जाय।

सच्ची आत्म-निन्दा से आत्म-शुद्धि होती है:

यह देखने की बात है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं अपनी आलोचना करते हुए पश्चाताप करता है, अपनी आत्म-निन्दा करता है तथा अपनी आत्मा को उसके पाप कृत्यों के लिये फटकारता है तो उसके मन का तनाव और मैल दूर हटता है। आत्म-निन्दा बड़ी कठिन होती है। आप जानते होंगे कि अधिकांशतः व्यक्ति अपनी गलती समझ में आ जाने के बाद भी उसको स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि उस गलती को न्याय-संगत ठहराने की चेष्टा भी करते हैं। इसलिये इस हठ को छोड़ना और अपने पापों को निश्चल भाव से प्रकट करके प्रायश्चित्त लेना-यह सब कुछ सरल प्रक्रिया नहीं है। जैसे सोने को शुद्ध करने के लिये आग में डाला जाता है, वैसे ही आत्मालोचना तथा प्रायश्चित्त की प्रक्रिया आग के समान होती है, जिससे सच्ची आत्म-शुद्धि सम्भव बनती है।

आज अपने चारों ओर नजर घुमाये तो क्या यह प्रवृत्ति ज्यादा नहीं दिखाई देगी कि लोग ज्यादातर पर की निन्दा करने में लगे रहते हैं। जहां भी दो चार व्यक्ति इकट्ठे हुए कि पर निन्दा का कार्यक्रम शुरू हो जाता है। दूसरों के दोष बतलाने में दुनिया भर की बातें याद रह जाती हैं, लेकिन लोग अपने दोष याद में आते हैं तो भी भूल जाते हैं। स्वयं कितने उज्वल और दूध के धोये हुए हैं और स्वयं के जीवन की स्थिति कैसी है-इसका ख्याल आत्म-शोधी पुरुषों को ही रहता है। पर-निन्दा खीर खांड से भी मीठी लगती है, मगर वह आत्मा को जहरीली बनाने वाली होती है। वहीं

आत्म-निन्दा जीवन के जहर को उतार देती है और उसको स्वस्थ बना देती है। इसलिये प्रभु महावीर से पूछा गया कि-

निन्दणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अर्थात् आत्म-निन्दा करने से किस फल की प्राप्ति होती है? भगवान् ने उत्तर दिया-

निन्दणयाए णं पच्छाणुतावं जणयई ।

अर्थात् अपनी आत्मा को अपने पापों की निन्दा करने से पश्चात्ताप होता है और पश्चात्ताप से वास्तविक आत्म-शुद्धि होती है। पाप करने वाला जब सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है तो उसकी पाप से निवृत्ति हो जाती है। इससे करुण गुण श्रेणी प्राप्त होती है और आत्मा की ग्रन्थियां टूट जाती हैं। कहा है-

पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करुणगुणसेट्ठि पडिवज्जइ। करुणगुणसेट्ठी पडिवज्जे य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।

इस रूप में आत्म-निन्दा जब मोहनीय कर्म के क्षय का कारण बनती है तो आत्मा की कर्म ग्रन्थियां टूटने लगती हैं और आत्म-स्वरूप पाप मुक्त बनकर निखरने लगता है।

आत्मा को पाप कर्मों में न जकड़ो, उसे पाप कर्मों से उबारो:

इसलिये ज्ञानीजनों का कथन है कि यह आत्मा पहले से ही पाप कर्मों में जकड़ी हुई है, इसे और पाप कर्मों में न जकड़ो, बल्कि इसको संलग्न पाप कर्मों से उबारो। ये पाप कर्म ही इसके बन्धन हैं इसका मैल है, जो इस आत्मा के मूल-स्वरूप को आच्छादित किये हुए हैं। यह आच्छादन भी अपने अज्ञान में इसी आत्मा ने किया है तथा यही आत्मा अपनी सच्ची आलोचना करे, निश्चल भाव से प्रायश्चित्त ले तथा अपने जीवन को साधना पथ की तरफ मोड़ दे तो उन आच्छादनों को हटा सकती है तथा अपने मूल-स्वरूप को सम्पूर्णतया प्रकाशित करके परमात्म-स्वरूप का वरण कर सकती है। वर्तमान में इस आत्मा के सामने अपने को ही पाप कर्मों से उबारने की कठिन समस्या है।

आत्मालोचना से पश्चात्ताप होता है तथा पश्चात्ताप से पाप निवृत्ति होती है-यह शास्त्रीय संकेत है। इस शास्त्रीय संकेत को गहराई से समझें तथा इसको अपने जीवन में अपनावें। कई बार व्यक्ति सच्चे हृदय से पाप कार्यों से दूर होना चाहता है लेकिन सही विधि को नहीं अपना पाने के कारण जिन उलझनों से निकलना चाहता है, उन्हीं उलझनों में अधिकाधिक उलझ जाता है। शिवदत्त नाम का एक सेठ का लड़का था, जिसके शरीर में लम्बे समय से बीमारी चल रही थी। सेठ सम्पत्तिशाली था, वह उसकी चिकित्सा पर हजारों रुपये व्यय कर रहा था लेकिन शिवदत्त का स्वास्थ्य सुधर ही नहीं रहा था। शिवदत्त क्या करता कि कोई भी औषधि लेता ही नहीं-आंख बचा कर दवाइयां इधर-उधर फैंक देता। शिवदत्त को चिकित्सा का इस लम्बे अर्से में काफी अनुभव हो गया। उसने आग्रह करके अपने पिता से गरीबों के लिये एक मुफ्त औषधालय खुलवा दिया और उसमें गरीबों की सफल चिकित्सा करवाने लगा, लेकिन अपनी चिकित्सा से तब भी वह दूर ही रहा। एक बार एक महात्मा आये तो सेठ उसको उनके पास ले गया ताकि वह सन्तों की बात मान कर ही अपने को नीरोग बना सके।

संयोगवश महात्मा ने अपने प्रवचन में भार्गव पुरोहित की धर्मकथा सुनाई। भार्गव राजपुरोहित का पुत्र था जिसका जीवन सभी प्रकार के दुर्व्यसनों से रंगा हुआ था। जनता के साथ उसका व्यवहार भी बड़ा अत्याचारपूर्ण था। उसको भी एक बार महात्मा का संयोग हुआ तो महात्मा ने उसको कहा-देख, तू अपने इस जीवन में सभी प्रकार के दुर्व्यसनों का सेवन करते हुए चल रहा है जिसका परिणाम भयावह होगा। आज नहीं तो कल तेरे सारे पाप प्रकट होंगे अतः तू अपने स्वयं के पापों को देख और उनकी जकड़ से अपनी आत्मा को दूर कर। उपदेश भार्गव को लग गया। उसने अपनी आत्मा की निन्दा की तथा अपने सारे पापकृत्य महात्मा के सामने खोल कर रख दिये। उस कथानक के सन्दर्भ में शिवदत्त ने भी महात्मा का उपदेश सुना कि पाप करने वाला पहाड़ के समान अपनी गलती को तिल के समान

समझता है तथा दूसरों की तिल के समान गलती को भी पहाड़ बना कर बताता है जिससे उसके पाप कर्मों का भार और बढ़ जाता है। पाप कर्मों की जकड़ से अगर आत्मा को छुड़ाना है तो अपने स्वयं के जीवन को देखना होगा तथा एक-एक गलती को ढूँढ़ कर दूर करना होगा। शिवदत्त इस उपदेश से बहुत ही प्रभावित हुआ तथा उसने अपने शरीर के बजाय अपनी आत्मा की चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। तब वह आत्मा और शरीर दोनों से नीरोग बन गया। यह आत्मा का ही रोग होता है जो जीवन में मानसिक तथा शारीरिक रोगों के रूप में प्रकट होता है और यह आत्मा का रोग होता है-पापों की जकड़। पापकृत्यों को समझें तथा उनको छोड़ दें तो आत्मा और आत्मा के साथ सम्पूर्ण जीवन स्वस्थ हो जाता है। इससे आत्मा स्वस्थ ही नहीं शुद्ध भी बन जाती है।

ज्ञान व विवेक से पाप निवृत्ति की ओर अपना समस्त ध्यान लगावें :

अभी तो मैं इतना ही संकेत दूंगा कि सम्यक् ज्ञान तथा जागृत विवेक के साथ आप अपना समस्त ध्यान पाप-निवृत्ति की ओर केन्द्रित करें। इसके लिये आप अपनी आत्मा का निरन्तर अवलोकन करते रहिये कि कहां और किस प्रकार वह पापपूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की उलझनों में फंस रही है? यह समझ कर उसको उनसे बचाने की चेष्टा रखिये। इसके बाद भी जहां-जहां पाप में उसका फसना हुआ है या होता है, उसके लिये सरल हृदय से आत्म-निन्दा कीजिये और उसके साथ योग्य पुरुष के द्वारा प्रायश्चित्त लीजिये।

कमल कीचड़ में पैदा होता है, फिर भी उससे दूर रह कर अपनी सुवास को विकसित करता है कि अनेकानेक प्राणी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसी प्रकार पाप पंक में चल रही यह आत्मा भी अपने योग्य पुरुषार्थ से अपने जीवन को सुवासित बना सकती है। मुख्य बात यह है कि पाप-निवृत्ति हो तथा विचार एवं आचार में निर्मलता का संचार हो। पाप का मूल मोह होता है और मोह को छोड़ने पर दूसरे पाप भी हटते हैं। इसलिये पाप-निवृत्ति होती है तो मनुष्य का जीवन भी सुगन्धित हो सकता है, जो दूसरों को प्रभावित कर सके।

गंगाशहर-भीनासर

दि0 25-9-77

2. श्रद्धांजलि एवं सेवा और समता

आज का प्रसंग एक दृष्टि से खेदजनक है। इस प्रसंग को मन नहीं चाहता था कि सुने, लेकिन विवशता से सुनना पड़ रहा है तथा सुन गया हूं। जैसा कि डागा जी ने कहा है कि कपासन से आध्यात्मिक क्षेत्र के भव्य साधक श्री धनराज जी महाराज साहब के स्वर्गवास के समाचार आज अर्द्धरात्रि के बाद मिले तो देखना यह है कि ऐसी विशिष्ट आत्मा का समाज के बीच में से विलग हो जाना क्यों दुःख और खेद का विषय बनता है?

एक दृष्टि से देखें तो भौतिक पिंड से विलग होने का प्रसंग एक न एक दिन सभी मनुष्यों और प्राणियों के जीवन में आता है और मोहवश जो ऐसे प्रसंग पर खेद होता है, वह खेद अज्ञानपूर्ण होता है। लेकिन एक गुणी आत्मा के जीवन में जब ऐसा प्रसंग आता है और गुणों की दृष्टि से जब चिन्तन किया जाता है तो वह खेद खेद कर्ता के जीवन में भी नई जाग्रति लाने का निमित्त बन सकता है। ऐसी विशिष्ट आत्मा को अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करने तथा खेद प्रकाशित करने में भी शुभ-भावनाओं का प्रवाह प्रवाहित होता है जो प्रवाह आत्म-स्वरूप को निर्मल बनाता है तथा प्रेरणा देता है कि ऐसी विशिष्ट आत्मा के आत्म-गुणों को हृदय की आंखों से देखें तथा उनको अपने जीवन में अपनायें।

उनकी दीर्घकालीन साधना एवं सन्तों की सेवा भावना :

श्री धनराज जी महाराज सा. की संयम साधना दीर्घकालीन रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने स्व. आचार्य श्री श्रीलाल जी म० सा० के साङ्गिध्य में दीक्षा ग्रहण की। उनका यह साधक जीवन कितना सौभाग्यशाली था कि उन्होंने स्व. आचार्य श्री श्रीलाल जी म. सा. से मुनि जीवन अंगीकार किया, स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. की सेवा में अपनी संयमयात्रा की पवित्र गति को अभिवृद्ध बनाया तथा स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. के पावन व क्रान्तिकारी अनुशासन में भी उन्होंने प्रवेश किया। जिन्होंने ऐसे तीन दिव्य पुरुषों की उपासना की ऐसे इन महान् सन्त के चरणों में दर्शन करने का सौभाग्य मुझे भी मिला है, लेकिन कुछ उत्तरदायित्वों के कारण मैं उनकी विशेष सेवा नहीं कर पाया-यह भी मेरे लिये एक खेद का विषय है। क्या ही अच्छा होता कि इस वक्त मैं भी उनकी सेवा में उपस्थित रहता और उन महान् सन्त की यथासाध्य सेवा करें पाता। गत वर्ष कुछ ऐसा विचार तो आया था कि नोखा चातुर्मास के बाद कपासन की तरफ विहार किया जाय और उनकी सेवा में पहुंचा जाय किन्तु कई अन्याय परिस्थितियों के कारण वैसा नहीं हो सका। उनकी दीर्घकालीन साधना एक गौरव का विषय है और जिन-जिन सन्तों ने अपनी आन्तरिक सेवा-भावना के साथ तन्मयतापूर्वक उनकी सेवा की, वे सौभाग्यशाली रहे हैं।

पूर्व में जितने भी सन्तों को वहां भेजा गया और जो वहां पहुंचे, उन सभी सन्तों ने कितनी लगन से, उनकी किस प्रकार सेवा की, उन सेवा करने वालों का वह आदर्श मेरी दृष्टि में है। इस आदर्श को चतुर्विध संघ भी भली-भांति जानता है। जहां गृहस्थ अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों के घरों में सब तरह की सम्पन्नता होती है, परिवार जनों की दृष्टि से भी विपुलता होती है, वहां पर भी वृद्ध माता-पिताओं की सेवा किस प्रकार बनती है-यह आप लोगों के ध्यान में हैं। अधिकांश वृद्धजनों की क्या दयनीय दशा होती है तथा वे अन्तिम समय में कैसा कष्ट पाते हैं-ऐसे प्रसंग सामने आते हैं। वे अपनी दयनीय दशा को बाहर भी प्रकट नहीं कर पाते हैं क्योंकि उससे परिवार की न्यूनता दीखती है। इस तरह भीतर ही भीतर बहुत दुःखित होकर वे अपनी जीवन यात्रा समाप्त करते हैं।

किन्तु यह प्रभु महावीर के दिव्य शासन की देन है और दूसरे शब्दों में कहूं तो आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म. सा. के क्रान्तिकारी परिवार के सदस्य आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. के भव्य आध्यात्मिक अनुशासन का सुपरिणाम है कि किसी भी वयोवृद्ध सन्त अथवा सती के लिये सेवा के अभाव का अवसर कभी नहीं आया। किसी के शिष्य हों या न हों, उनकी सुन्दर ढंग से सेवा की जाती रही है। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. ने यह भव्य अनुशासन स्थापित किया कि एक ही आचार्य के नेतृत्व में शिक्षा, दीक्षा, विहार आदि का सारा कार्य चले। इस क्रान्तिकारी सुव्यवस्था से सेवा-भावना का अपूर्व रूप से श्रेष्ठ विकास हुआ।

नाम की सेवा मिटी और सेवा की वास्तविकता पैदा हुई :

पहले साधुओं के साथ भी अपने-अपने चेलों के परिवार का प्रसंग था। वे भले ही कष्ट पावें, नाम के चले रहते थे, पर सेवा की स्थिति बड़ी विचित्र थी। ज्यादातर गृहस्थियों की दुर्दशा के समान ये नाम के चले भी नाम की सेवा करते थे। इन परिस्थितियों में आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने एक आचार्य के नेतृत्व की परिपाटी का क्रान्तिकारी कदम उठाया और चेलों के मोहप्रपंच को समाप्त कर दिया। इस सुव्यवस्था से सन्त समाज में सेवा की वास्तविकता पैदा हुई।

श्री धनराज जी म.सा. तथा श्री सागरमल जी म.सा. के अपने चेलों के नाम से कोई चले नहीं थे, लेकिन अन्त तक उनकी कितनी भव्य सेवा हुई-इस सेवा का अनुभव कपासन संघ के मुखियाओं को विशेष रूप से हैं। अच्छे-अच्छे सम्पन्न घरानों के साधु वहां पहुंचे और उन्होंने हार्दिकता से उनकी सेवा की। स्थिर पद विभूषित श्री धनराज जी म.सा. के कई बार समाचार मुझे मिले कि वहां भेजे गये सन्तों ने उनकी अच्छी से अच्छी सेवा की। बीच में उनके स्थान

परिवर्तन के विषय में भी सोचा गया कि विद्यार्थी सन्त अध्ययन के साथ-साथ उनकी सेवा का भी लाभ ले सकें, लेकिन यह बात कपासन संघ को नहीं रुची, अतः वैसा नहीं किया गया।

अच्छे-अच्छे विद्वान् सन्तों ने जिस तन्मयता के साथ उनकी सेवा की, उस सेवा को देखकर कहा जा सकता था कि वह वास्तविक सेवा थी। सम्पत मुनि जी भी उनकी सेवा में रहे। आप तो सम्पत मुनि जी के उग्र सेवा-भाव को जानते हैं। इनको किसी भी सेवा कार्य का संकेत होना चाहिये, ये सदैव तत्पर रहते हैं। यदि किसी को अध्ययन कराना है तो तैयार, व्याख्यान देना है तो तैयार, सेवा करनी है तो तैयार तथा कपड़े धोने हैं या आहार के बाद जमीन साफ करनी है तो भी ये तैयार रहते हैं। किसी भी सेवा कार्य में इनकी तत्परता उल्लेखनीय है। इन्होंने मुझे कहा कि मैं श्री धनराज जी म.सा. की सेवा में चला जाऊं। ये वहां गये और इन्होंने आदर्श रूप से उनकी सेवा की। उस समय इनके छत्तीसगढ़ की तरफ विहार करने का चिंतन चल रहा था। वहां उन्होंने गृहस्थ अवस्था में खूब धर्म जागरणा की थी तो साधु रूप में वहां जाकर अच्छी धर्म जागरण करने का चिंतन था, किन्तु सेवा के लिये वे कपासन रुके और तन-मन से उन्होंने सेवा की, जो नाम के चेलों से कभी भी नहीं बन सकती है। इनके सिवाय महेन्द्र मुनि, ईश्वर मुनि, अमर मुनि, धर्मेश मुनि, शान्ति मुनि और कई सन्त उनकी सेवा में पहुंचे। मैं सबके नाम नहीं लेना रहा हूं किन्तु जो-जो भी सन्त वहां पहुंचे, उन्होंने अपनी सेवा की तत्परता से उनके हृदय को शान्ति पहुंचाई।

ईश्वर मुनि जी ने तो वर्षों तक उनकी एकरूप होकर सेवा की तथा चित्त की प्रसन्नता के साथ हर समय उनकी सेवा में जाने व रहने की भावना वे व्यक्त करते रहते थे। महेन्द्रमुनि जी के यहां आने का प्रसंग बना तो नवदीक्षित सेवाभिलाषी नरेन्द्रमुनि ने उनकी तन्मयतापूर्वक सेवा की। एक नवीन सन्त में इस प्रकार आज्ञा की आराधना बड़ी महत्वपूर्ण होती है। उनके साथ जाने के लिये बालक से दिखाई देने वाले नये सन्त जयन्तमुनि भी भावनापूर्वक तैयार हो गये। ये दोनों सन्त खाना हुए तो आमेट चातुर्मास उठा कर धर्मेशमुनि व नव-दीक्षित गौतममुनि की भावना इधर आने की थी लेकिन मेरे संकेत पर वे भी खुशी-खुशी कपासन पहुंच गये। इन घटनाओं को मैं इस लिये रख रहा हूं जिससे यह समझ में आ सके कि एक आचार्य की नवीन क्रान्तिकारी व्यवस्था का प्रारम्भ हो जाने के बाद से सन्तों में वास्तविक सेवा का कैसा अपूर्व उत्साह उत्पन्न हो गया है। नाम की सेवा मिट गई और सेवा की वास्तविकता पैदा हो गई है।

एक सूत्र, एक स्पर्शना तथा एक प्ररूपणा का सुन्दर वातावरण :

स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने इस क्रान्तिकारी व्यवस्था का सूत्रपात किया, जिसके फलस्वरूप साधकसन्तों की सभी सन्तों के द्वारा सहृदय सेवा करने का अवसर उपस्थित हुआ। इसकी जानकारी आप श्रावक, श्राविकाओं को भी होनी चाहिये क्योंकि इस सुव्यवस्था के स्वस्थ संचालन में आप लोगों के सहयोग की भी उतनी ही अपेक्षा है। सारा चतुर्विध संघ इस शासन का सूत्रधार है तथा इसके प्रत्येक सदस्य को अनुभव करना चाहिये कि उसका सशक्त समर्थन आध्यात्मिक अनुशासन को मिले। यह अनुशासन है कि एक सूत्र, एक स्पर्शना, एक प्ररूपणा तथा एक ही आचार-विचार की स्थिति के सुन्दर वातावरण का निर्माण किया जाय तथा उस वातावरण में चतुर्विध संघ का प्रत्येक सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करे एवं संघ शासन को दीपावे।

संघ शासन के ऐसे प्रेरणादायक वातावरण में ही सेवा का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया जा सकता है। यह सेवा मोह-रहित तथा कर्तव्य भावना से परिपूर्ण होती है। सती वर्ग में भी किस प्रकार सेवा के प्रसंग आये-यह आपने यहां देखे ही हैं? जीवना जी भद्रिक सती थी, उनके अपनी चेलियां नहीं थी लेकिन विदुषी सतियों ने पहुंच-पहुंच कर उनकी सेवा बजाई और अब भी सेवा के क्षेत्र में ऐसी ही परिपाटी चल रही है। वैसे ही महासती सुगनकंवर जी म. सतीवर्ग में दीर्घकालीन साधिका थी और उनके लकवे की बीमारी हो जाने का प्रसंग आया। वे व्यावर में बिराजी हुई थी और किस प्रकार सती श्री भंवरकुंवर जी, चमेली जी और अन्य सतियों ने उनकी प्राणपण से सेवा की जो आदर्श

रूप रही। सेवा की ऐसी भावना और उसकी व्यावहारिकता कितने गौरव की वस्तुस्थिति है। इस प्रकार की सेवा भव्य अनुशासन के कारण ही बन पाई है। इस सेवा के अभाव में पहले बड़ी विचित्र स्थिति बनती थी। यह इस संघ शासन के अन्तर्गत रहने वाले सन्त-सती वर्ग का सौभाग्य है। यों भी कहूँ तो चले कि चतुर्विध संघ सौभाग्यशाली है। शायद प्रभु महावीर की पवित्र संस्कृति का इस पवित्र भूमि में सच्चा प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य इस संघ शासन को मिला है।

आज के इस युग में कोई-कोई संघ ही इस प्रकार के आत्मप्रेरक वातावरण में चल रहे होंगे। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सभी इस संघ में कितने सेवा-भावी हैं- यह संघ व्यवस्था की देन हैं। इसी संघ व्यवस्था का सुफल है कि प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्य के तथा समूचे संघ के हित की बात सोचने वाला हैं। मैं कभी प्रसंगवश किसी को शिक्षा देने की दृष्टि से कुछ सम्बोधन करता हूँ और कभी नहीं भी करता हूँ, लेकिन मेरी दृष्टि में रहता है कि कौन-कौन किस-किस प्रकार की भावना रखते हैं, यद्यपि मेरे से ज्यादा वार्तालाप करने का प्रसंग नहीं आता है। कई भाई मेरे हाथ के इशारे से सन्तोष कर लेते हैं तथा मंगल पाठ सुनकर चले जाते हैं। माताओं से तो बोलने का भी प्रसंग नहीं आता। कोई बहिनें बोलती हैं तो बोल लेता हूँ। फिर भी मैं देखता हूँ कि शासन के प्रति उनकी कितनी निष्ठा है? यह चतुर्विध संघ किस प्रकार सतर्क होकर चले-इस ओर प्रत्येक सदस्य का चिन्तन है। इस सत्य तथ्य को अंगीकार करने में किसी को भी हिचक नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह एक नेतृत्व का ही सुप्रभाव है।

ऐसी संघ व्यवस्था के प्रेरक जावें, तो उनका वियोग खेदजनक होता है :

यह सारी देन उन महापुरुषों की है जिन्होंने इस शासन की शोभा बढ़ाई है और अपने भव्य आचार-विचार से इस संघ की जड़ों का सिंचन किया है तथा कर रहे हैं। जीवन भर की दीक्षा के सन्दर्भ में देखें तो एक दिन की दीक्षा का भी बड़ा महत्व होता है। यह मैं आप श्रावक-श्राविकाओं के प्रसंग से कह रहा हूँ कि आप भी इस संघ शासन से निरन्तर किस प्रकार प्रेरणा ग्रहण करते हुए चल सकते हैं? दीर्घकालीन दीक्षा अंगीकार करलें तब तो गृहस्थ वर्ग में ही नहीं रहेंगे लेकिन अगर गृहस्थ वर्ग में रहते हुए दीक्षा के अनुभव लेना चाहते हैं तो वह एक दिन की दीक्षा के माध्यम से ले सकते हैं। वह एक दिन की दीक्षा होती है चौबीस घण्टों का प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत अथवा दयाव्रत। यह एक दृष्टि से श्रावक जीवन की अस्थायी दीक्षा का रूप होता है। यद्यपि दीक्षा शब्द साधु जीवन के लिये रूढ़ हैं, लेकिन मैं उपमा की दृष्टि से कह रहा हूँ। चौबीस घण्टों का पौषध कर लेते हैं, आगे बढ़ें तो अड़तालीस घण्टों का या और आगे बढ़ें तो तेले की तपस्या करने से कई भाई-बहिन ऊब जाते हैं। उनको ऐसा लगता है कि बंध गये थे सो अब खुल जावें। लेकिन कल्पना करिये कि जिन्होंने बचपन में दीक्षा लेकर लम्बे समय तक तीन करण तीन योग से संयम साधना की है-उनका मन कैसा बनता है? ऐसे दीर्घकाल तक आत्म-कल्याण साधने वाले महापुरुषों का योगदान जीवन को उत्साहित बनाता है। ऐसे महापुरुष मूल में आदर्श संघ व्यवस्था के प्रेरक होते हैं तथा ऐसे प्रेरक पुरुष जब शरीर से इस संसार से जाते हैं तो उनका वियोग खेदजनक होता है

इन महापुरुषों की प्रेरणा से शासन को अपना-अपना समुचित योगदान देने की तत्परता जागती है और ऐसी तत्परता को जो जगाते हैं तथा भव्य स्वरूप प्रदान करते हैं, वे इस लोक को भी सुधारते हैं तथा परलोक को भी सुधारते हैं। ऐसे ही महापुरुषों में दीर्घकाल के महातपस्वी एव महास्थिवर मुनि श्री धनराज जी म.सा. का भी नाम है। शासन की भव्य स्थिति में उनका शरीर रूप से चला जाना अवश्य खेदजनक है और खटकने वाला है। वे अब अपने शरीर पिंड से चले गये हैं, लेकिन ज्योति रूप से देदीप्यमान हो गये हैं। उनकी दीर्घकाल की संयम साधना, उनकी ज्ञान-दर्शन चारित्र्य की अभिवृद्धि तथा उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा इस चतुर्विध संघ के लिये तथा सारे संसार के लिये ज्योति का काम दे सकती है। परन्तु वह ज्योति तभी उपयोगी बन सकती है जब प्रत्येक भव्य सदस्य भी अपनी अन्तर्ज्योति को

जगार्वे । जागृति के सूत्र परस्पर मिलते हैं तभी आत्म-विकास एवं समाज-विकास का कार्य सफलता की ओर गति कर सकता है ।

प्रत्येक भव्य सदस्य को इसे अपना कर्तव्य मानना चाहिये कि वह श्री धनराज जी म. सा. के इस वियोग को धैर्य और शान्ति से सहन करते हुए उनके आत्मिक गुणों को यथाशक्ति एवं यथास्थान अपने जीवन में अपनाने की चेष्टा बनावे । यदि चतुर्विध संघ के सारे सदस्य उन गुणों को अपने जीवन में उतारने की कोशिश करते हैं तो मैं सोचता हूँ कि स्थविर पद विभूषित श्री धनराज जी म.सा. अपने ज्ञान नेत्रों से तथा अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से ओझल नहीं हुए हैं । ऐसा करना ही यथार्थ अर्थ में उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि का समर्पण करना है ।

सच्ची श्रद्धांजलि का अर्थ है-

संयम साधना एवं सेवा-भावना का विकास :

किसी महापुरुष के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करने का अर्थ है कि उसके उन आत्मिक गुणों को अपने जीवन में उतारना जिनके माध्यम से संयम-साधना एवं सेवा भावना का सम्यक्-विकास हो सके । उस महापुरुष की स्मृति इस रूप में बराबर मन मस्तिष्क में बनी रहे और साधना पथ पर चलते हुए जब-जब साधक के पांव लड़खड़ाने लगे तो उस स्मृति से साधक को स्थिर गति की प्रेरणा मिले-तब माना जायगा कि वह महापुरुष शरीर पिंड से भले चला गया हो, लेकिन ज्योति-रूप में विराजमान है । इसलिये किसी भी महापुरुष को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के समय अर्पण करने वालों को अपना ही आत्मावलोकन करने की आवश्यकता है कि वे उस श्रद्धांजलि अर्पण के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टि से कितने योग्य हैं ।

इस प्रकार की योग्यता के साथ आप श्री धनराज जी म.सा. को, सुगनकुंवर जी महासती को तथा पूर्व में जो दिव्य आत्माएं हुई हैं, उन सब आत्माओं को अपने इस अभावात्मक जीवन में सदा-सर्वदा अपने समक्ष रखें और अपनी समग्र गतिविधियों को उन आदर्श पुरुषों के सद्गुणी जीवन की छाया में भव्य तरीके से ढालें । यदि इस तरह अपनी जीवन-विधि में समुचित सुधार कर लेंगे तो इस मानव-जीवन को भी आध्यात्मिक प्रगति के सन्दर्भ में सार्थक कर पायेंगे । आध्यात्मिक साधना से ऊबने या उपेक्षित बनने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस दृष्टि से सारा चतुर्विध संघ, जिसमें मैं भी शरीक हूँ और सारे साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाएं भी शरीक हैं, इन पूर्व पुरुषों की दिव्य ज्योति के निर्मल प्रकाश में अपना मार्ग खोजें तथा उस पर दृढ़ता-पूर्वक चलें । यही उनके जीवन के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा होगी ।

हम शासन की शोभा बढ़ाने वाली इन उपकारी आत्माओं के लिये यह शुभ-कामना करें कि वे अपनी आत्मिक-शक्ति में परिपूर्ण बन कर प्रभु महावीर और उनके पट्टधर आचार्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि महापुरुषों के दिव्य-स्वरूप को प्राप्त हों । हमारी यह मंगलमय कामना उन आदर्श पुरुषों के प्रति रहे और उनकी आध्यात्मिक साधना से हम मार्ग-दर्शन समय-समय पर लेते रहें एवं नत मस्तक होकर उनके गुणी व आदर्श चरण-चिह्नों का अनुसरण करते रहें-ऐसी भावना निरन्तर कार्यरत होनी चाहिये । सच्ची श्रद्धांजलि का मर्म इसी में है ।

सेवा जब जीवन में रमती है तो समतामय जीवन बनता है :

वास्तविक वस्तुस्थिति यह है कि जब शुद्ध एवं निर्विकार सेवा जीवन में रम जाती है, तभी जीवन समतामय बनता है । सेवा और समता का कारण-कार्य का सम्बन्ध परिणति में आता है । सेवा की सहज-वृत्ति से आत्मीय भावों का संचार होता है जिसके परिणाम स्वरूप समता की भावना का विकास होता है और आत्मार्पण की तत्परता जागृत बन जाती है । सेवा का उत्कृष्टतम बिन्दु ही समता का लक्ष्य होता है तथा इसी को व्यष्टि का समष्टि में विसर्जित हो जाना कहा जाता है ।

स्व. श्री धनराज जी म.सा. की स्वयं की सेवा-साधना तथा उनके प्रति की गई अन्य सन्तों की भावपूर्ण सेवा अथवा सेवा करने की भावना इसी रूप में अतीव उत्कृष्ट रही है। कर्मठ सेवाभावी धायमातृपद विभूषित श्री इन्द्रचन्द्र जी म.सा. यही बीकानेर में हैं। इनका जीवन भी स्व. श्री गणेशीलाल जी म. सा. की समीपता में सेवा-भाव से चला और अभी भी उनकी सेवा की कितनी तत्परता रहती हैं-यह आप जानते हैं। अपनी वयोवृद्धता एवं घुटनों के दर्द के बावजूद इन्होंने कई बार श्री धनराज जी म.सा. की सेवा में जाने की अपनी भावना प्रकट की। प्रेममुनि जी अध्ययन कर रहे हैं, फिर भी पहले सेवा में जाने को तत्पर हुए। श्री रणजीतमुनि तथा श्री मोतीलाल जी म. ने भी दृढ़ता के साथ सेवा बजाई। इस प्रकार यह फलती-फूलती हुई सेवा की भावना एक दिन जीवन को समतामय भी बनायगी-यह निश्चय जानिये।

समतामय जीवन ही एक प्रकार से मानव जीवन का आदर्श लक्ष्य माना गया है। यह समता सर्वतोमुखी तथा सर्वांगीण होनी चाहिए जो न केवल स्वयं के जीवन को साम्य भावों से ओत-प्रोत बनावे बल्कि समग्र समाज एवं विश्व को भी मृदुल स्पर्श दे सके। समता की साधना यदि जीवन में सफल बन जाती है तो स्वयं का जीवन ही समुन्नत नहीं बनता बल्कि सम्पूर्ण वातावरण में समुन्नति का संचार हो जाता है।

गंगाशहर-भीनासर

दि० 26-9-773. कोमलता, कठोरता और उदासीनता

शीतल जिनपति, ललित त्रिभंगी,

विविध भंगी मन मोहे रे.....

इस जीवन में कभी जो निखार आता है, पवित्रता की पगडंडी पर गमन होता है, उस वक्त उस आत्मा की गुणों की दृष्टि से विविध प्रकार की दशा बनती है। विविध प्रकार के स्वभावों के कारण भिन्न-भिन्न गुण दृष्टिगत होते हैं और वे जो पृथक्-पृथक् गुण दिखाई देते हैं, उन्हीं दशाओं को ध्यान में रखकर कवि ने इस प्रार्थना में अपने भाव अभिव्यक्त किये हैं।

शीतलनाथ भगवान् की प्रार्थना की दृष्टि से कवि ने परमात्म-स्वरूप में विविध भंगिमाओं के दर्शन किये हैं और उसी का उल्लेख उन्होंने इस प्रार्थना में किया है-

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,विविध भंगी मन मोहे रे ।

करुणा कोमलता तीक्ष्णता, उदासीनता सोहे रे ॥

सर्व जन्तु हितकारिणी करुणा, कर्म निवारण तीक्ष्ण रे ।

हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे ॥

कवि का तात्पर्य है कि इस दुनिया के अन्दर जितने भी दिखाई देने वाले पदार्थ हैं-जितनी भी वस्तुएं हैं, उन सारी वस्तुओं का रूप अलग-अलग दिखाई देता है। एक वस्तु जो कठोर है, वह कोमल नहीं होती है और जो कोमल है, वह कठोर नहीं होती है। फूल होता है वह पूरी तरह कोमल होता है, उसमें कठोरता तनिक भी नहीं होती। पत्थर है, वह पूरी तरह से कठोर होता है, उसमें कोमलता दूँढ़ पाना कठिन है। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनमें न पूरी तरह से कठोरता है और न पूरी तरह से कोमलता। कोमलता, कठोरता और उदासीनता-ये तीनों गुण अलग-अलग पदार्थों में दिखाई देते हैं।

कोमलता, कठोरता तथा उदासीनता के तीन गुण :

कोमलता, कठोरता तथा उदासीनता के इन तीन गुणों की उपलब्धि पदार्थों में तथा मनुष्यों के स्वभावों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देती है। अलग-अलग मनुष्यों के स्वभावों की अलग-अलग स्थिति होती है। लेकिन कवि कहते हैं कि भगवान् के परमात्म-स्वरूप में इन तीनों गुणों की एक साथ उपलब्धि है। भगवान् का स्वभाव कोमल भी है, बल्कि फूल से भी अधिक कोमल होता है। कोमलता के गुण की क्या व्याख्या की जाय ? भगवान् के स्वभाव में यह गुण घनीभूत होकर हितकारिणी करुणा के रूप में अभिव्यक्त होता है। भगवान् जो अपनी आत्मा का हित साधते हैं, वह भी मार्ग-दर्शन की दृष्टि से दूसरी आत्माओं का ही हित साधते हैं तथा अपनी उपदेश धाराओं से सारे विश्व का हित साधन करते ही हैं। यह उनकी अनन्त करुणा का प्रवाह होता है।

और भगवान् का स्वभाव कठोर भी होता है। कठोर इतना कि वज्र से भी अधिक कठोर। इस कठोरता का प्रयोग वे तीक्ष्णतापूर्वक अपने कर्मों के छेदन में करते हैं। इस तीक्ष्णता के माध्यम से वे कर्ममुक्त होकर अपने जीवन की साधना करते हैं और संसार के समक्ष भी तीक्ष्णता के गुण की प्राभाविकता को स्पष्ट बनाते हैं। कोमलता और कठोरता-इन दोनों गुणों का सद्भाव भी एक साथ होता है तो दोनों का कहीं अभाव भी होता है जहां उदासीनता के गुण का व्यक्तिकरण होता है।

प्रार्थना में कवि भगवान् से निवेदन करते हैं कि हे प्रभु, आपने मनुष्य जीवन में रहते हुए जो पवित्र साधना का मार्ग अपनाया, उसमें यह ललित त्रिभंगी अन्य साधकों के मन को प्रभावित करने वाली बन गई हैं। आप अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की उत्कृष्ट कोटियों में चले और इन गुणों को आपने साकार रूप दिया-इससे आपकी कोमल वृत्तियां प्रकाशित हुई क्योंकि समस्त प्राणियों के हित के लिये आपने यह सम्पूर्ण व्यवहार रखा। जिस मनुष्य की वृत्ति और जिस मनुष्य का आचरण संसार के अन्य प्राणियों के लिये कल्याणकारी बन जाता है-हितकर हो जाता है, वहीं जीवन एक दृष्टि से कोमलता एवं करुणा का मार्ग बन जाता है। मनुष्य के मन में दूसरों के दुःख के प्रति जब सहानुभूति के भाव प्रबल तथा सक्रिय हो जाते हैं तो उस समय इतनी अधिक कोमलता की वृत्ति ओत-प्रोत हो जाती है कि वह मनुष्य अपने मन से दूसरों के दुःख के साथ स्वयं भी दुःख बन जाता है। उसको ऐसा अनुभव होता है कि सामने वाला दुःखी नहीं है, बल्कि वह स्वयं ही दुःखी है। जिसकी अन्तरात्मा में यह भावना व्याप्त हो जाती है कि संसार का कोई भी प्राणी दुःखी नहीं हो और जब तक एक भी प्राणी दुःखी है, वह भी दुःखी रहेगा, तब समझना चाहिये कि ऐसी अन्तरानुभूति आत्मा की विशिष्टता का लक्षण बन गई है। ऐसी अन्तर्वृत्ति विशिष्ट पुरुषों के जीवन में ही जागृत होती है तथा क्रियाशील बन कर जगत् का उपकार करती है। यह सुकोमल कोमलता-यह हितकारिणी करुणा जब आन्तरिक भावों में संचरण करती है, तब यह आत्मा परमात्म-स्वरूप की दिशा में प्रगति कर रही है-ऐसा मानना चाहिये।

कोमल और कठोरता : अहिंसा और हिंसा :

जो आत्मा इस संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए भी अपने मूल स्वभाव की ओर दृष्टिपात करती है तथा दुनिया के प्राणियों के दुःखों को अपने दुःखों के समान समझती है, उस आत्मा में कोमलता के गुणों का विकास होने लगता है। इसके विपरीत जिसके मन में इस कोमलता की वृत्ति का अभाव होता है, वह दूसरों के दुःखों को देखकर द्रवित नहीं होता है। दुनिया भी उसके स्वभाव को देखकर यही कहती है कि वह व्यक्ति निर्दयी है- निष्ठुर हैं। जब किसी के मन में निष्ठुरता या कठोरता होती है तब वह दूसरों का सहायक तो नहीं ही बनता, लेकिन दूसरों का दिल तोड़ने में भी देरी नहीं लगाता है। वह दूसरों के प्राणहरण करने के लिये भी उतारू बन जाता है।

कोमलता और कठोरता-इन दोनों वृत्तियों को इस सन्दर्भ में देखें तो अहिंसा और हिंसा की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। अहिंसा और हिंसा का इस जीवन में बहुत बड़ा कार्य होता है और सांसारिक व्यवहार में इन दोनों वृत्तियों के आधार पर ही किसी मनुष्य का स्वभाव कितना कोमल है अथवा कितना कठोर है-इसका

अनुमान लगाया जाता है। वैसे मुख्य तौर पर यह कहा जाता है कि प्राणों को आघात पहुंचाना हिंसा है। और प्राणों को किसी रूप में कोई आघात नहीं पहुंचाना बल्कि उन प्राणों की सुरक्षा करना-उन्हें शान्ति पहुंचाना-यह अहिंसा है। लेकिन इस युग की तार्किकता एक प्रश्न खड़ा करती है। शास्त्रकारों का कथन है कि आत्मा अजरामर होती है, वह कभी भी मरती नहीं है। जब आत्मा सदा अमर है तो फिर हिंसा किसकी होती है? हिंसा नहीं तो हिंसा का पाप क्यों? आत्मा मरती हो हिंसा के कारण-तभी तो हिंसा का पाप लग सकता है, लेकिन जब आत्मा अमर है तो हिंसा और उसके पाप का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

यह तार्किक प्रश्न उचित नहीं है। यह सत्य है कि आत्मा अमर है, लेकिन इस संसार में रहते हुए आत्मा एकाकी नहीं होती है, वह किसी न किसी योनि के शरीर से सम्बद्ध होती है। जैसे यह आत्मा वर्तमान में मनुष्य योनि में है तो मनुष्य के शरीर में निवास कर रही है। पशु योनि में रही हुई आत्माएं विभिन्न प्रकार के पशुओं के शरीरों में रहती हैं। अपने-अपने कर्म-फल के अनुसार आत्मा एक शरीर को छोड़कर भी दूसरे शरीर को धारण करती है तथा इसके बीच में भी वह सूक्ष्म शरीर के साथ संलग्न रहती है। वह जब तक मुक्त नहीं होती है, किसी न किसी शरीर से सम्बद्ध रहती है। तो ऐसी आत्मा अपने शरीर की दृष्टि से नष्ट भी होती है याने कि शरीर नष्ट होता है। दस प्राण जो माने गये हैं, वे आत्मा-युक्त शरीर के लक्षण होते हैं। मनुष्य जीवन में दसों प्राणों की विद्यमानता होती है। इन प्राणों को आघात पहुंचाना-इसको हिंसा कहा गया है-प्राणव्यपरोपणं हिंसा। यह हिंसा भी स्पष्ट होती है प्रमत्त-योग से। इसीलिये उमास्वाति आचार्य ने हिंसा की व्याख्या अपने तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार की है-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यतिरोपणं हिंसा।

इस तरह सक्रिय प्राण जीवित शरीर के होते हैं तथा उनका निष्ठुरता, अज्ञान अथवा असावधानी से घात किया जाता है तो वह हिंसा का आचरण कहलाता है। हिंसा का जितना भी आचरण होता है, वह मन की कठोर वृत्ति के कारण होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के मन की कठोरता कम होती है और कोमलता बढ़ती है तो वह हिंसा से दूर हटता है तथा अहिंसक बन जाता है।

आत्मा रूपी भी, अरूपी भी, नश्वर भी, अनश्वर भी:

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उल्लेख है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा-

रूपी आया, भन्ते, अरूपी आया वा?

भगवान् ने उत्तर दिया-

रूपी वि आया, अरूपी वि आया।

आत्मा रूपी है अथवा अरूपी के प्रश्न का उत्तर मिला कि आत्मा रूपी भी है तथा अरूपी भी है। तो रूपी किस रूप में है? जो आत्मा आठ कर्मों से तथा शरीर से सम्बद्ध है, वह आत्मा इस दृष्टि से रूपी होती है। वैसे तो शरीर पांच प्रकार के होते हैं लेकिन तीन प्रकार के शरीरों से आत्मा संयुक्त रहती है। ये तीन शरीर मनुष्य जीवन में होते हैं- औदारिक, तेजस और कर्मण। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-यह इनकी दार्शनिक परिभाषाएं हैं। दर्शनकार स्थूल शरीर को दीखने वाला बताते हैं। यह औदारिक शरीर है। सूक्ष्म शरीर दिखाई नहीं देता है जो तेजस शरीर होता है और कर्मण शरीर इन दोनों शरीरों का निमित्त कारण रूप होता है। वैसे प्रकट रूप में ये तीनों शरीर आत्मा के आवरण रूप होते हैं। यों समझिये कि आत्म-स्वरूप इन तीन ढक्कनों से ढका हुआ है।

आत्मा ही मूल में कर्म-बन्धन से इन शरीरों को पैदा करती है और यही आत्मा इन शरीरों के साथ दूध-पानी की तरह मिलकर संसार में भव-भ्रमण करती है। आत्मा के इस रूप की अपेक्षा से आत्मा को रूपी कहा गया है। आत्मा का यह रूपी रूप सबको दिखाई देता है-समझ या अनुभव में आता है। ऐसे ही पूछ लेता हूं-उपदेश कौन सुनता है?

आप चक्कर में पड़ जायेंगे कि साफ बात है कि हम उपदेश सुन रहे हैं, फिर भी महाराज क्यों पूछ रहे हैं? लेकिन आप इस बात को समझें। सुनने वाली असल में आत्मा है लेकिन वह सुनती कान के जरिये हैं। अगर कोई आदमी बहरा हो याने कि उसके पास कान की शक्ति नहीं हो तो आत्मा के होते हुए भी क्या वह उपदेश सुन सकेगा? आत्मा तब कोई भी शब्द नहीं सुन सकेगी। देखने वाली आत्मा है, लेकिन वह देखती आंखों के माध्यम से हैं। दूसरी तरफ आत्मा नहीं हो तो मृत शरीर की सही आंखें भी कुछ नहीं देख पाएंगी। इसका अर्थ यह हुआ कि कान के पास भी आत्मा है, आंख के पास भी आत्मा है और प्रत्येक इन्द्रिय आत्म-शक्ति से जुड़ी हुई रहती है। आत्माएं अलग-अलग नहीं हैं। वह तो एक ही हैं, लेकिन वह पांचों इन्द्रियों तथा मन के साथ ओत-प्रोत होकर चल रही है। तीनों शरीरों को धारण करने वाली भी यही एक आत्मा है। आत्मा ही की जीवन्तता से आपको महसूस होता है कि यह कान मेरा है, यह आंख मेरी है तथा अमुक इन्द्रिय मेरी है। कारण यह आत्मा इन सबको अपनाकर चल रही है।

सच तो यह है कि जड़-चेतन के इस सम्बन्ध का नाम ही संसार है। वर्तमान में यह आत्मा इस शरीर के साथ है इसलिये यह शरीर भी आत्मा का कहलाता है। आपको पूछें कि यह चश्मा किसका है तो चट से कह देंगे कि मेरा है। जब शरीर से पृथक् जड़ पदार्थों को भी आप अपना मानते हैं तो यह शरीर अपने-पन से कहां दूर हैं? यह शरीर आपका ही है, क्योंकि आत्मा इसी शरीर में रही हुई है। शरीर में रहती हुई आत्मा के किसी प्राण का अगर कोई विनाश करता है तो वह रूपी आत्मा पर आघात करता है। मूल रूप में आत्म-स्वरूप अरूपी है लेकिन वह स्वरूप तब प्रकट होगा जब इस शरीर में रहने वाली आत्मा सिद्ध अवस्था की योग्यता से सिद्ध बन जायगी और अपने अरूपी स्वरूप को पूर्ण बना लेगी। तब आत्मा को न कोई छेद सकेगा न भेद सकेगा-इसका कोई नाश नहीं कर सकेगा, जब तक यह आत्मा आठ कर्मों को नष्ट नहीं कर पाती है तब तक इस आत्मा का घात होता है-इस दृष्टि से हिंसा लगती है।

आत्मा अपने रूपी-स्वरूप की दृष्टि से नश्वर है तो अपने मूल अरूपी स्वरूप की दृष्टि से अनश्वर होती है। कहां हिंसा होती है, कहां नहीं ?

कोमलता और कठोरता का विश्लेषण :

कभी-कभी ऐसा प्रसंग होता है कि रूपी आत्मा की हिंसा हो जाने पर भी हिंसा नहीं लगती है, लेकिन ऐसा तब होता है जब शुभ भावों के निमित्त से पुण्य-बंध का कारण बनता है। आप कहेंगे कि यह कैसे? सोचें कि एक कसाई हाथ में छुरा लेकर एक पशु का पेट चीर रहा है तो वह हिंसा कर रहा है अथवा नहीं? साफ है कि वह प्राणों का नाश कर रहा है और इसलिये हिंसा कर रहा है। लेकिन एक सर्जन छुरी लेकर एक मनुष्य का पेट चीर रहा है, क्या उस डॉक्टर को आप हिंसक या प्राणघातक कहेंगे? दोनों के कार्य समान दीखते हुए भी दोनों के भावों तथा उद्देश्यों में आसमान-पाताल का अन्तर होता है। एक का उद्देश्य मारना है तो दूसरे का रक्षा करना है। भावों की अवस्था एकदम विपरीत दिशाओं में होती है। गृहस्थ अवस्था में रहने वाला व्यक्ति आरम्भी हिंसा से नहीं बच सकता है लेकिन इरादे से की जाने वाली प्राणों की घात उसके महान् पाप का कारण बनती ही है। उस डॉक्टर द्वारा किये गये ऑपरेशन से एक के प्राण नष्ट हो गये, लेकिन फिर भी उस डॉक्टर को संकल्पी हिंसा का पाप नहीं लगता है क्योंकि उसका इरादा पापपूर्ण नहीं होता है। इरादातन मारने से पाप लगता है तो समझिये कि वास्तव में हिंसा का पाप किस पर आधारित है? आपको ज्ञात होगा कि हिंसा के पाप का मूल आधार भावना पर होता है-इरादे पर होता है।

जब मनुष्य किसी को मारने का इरादा करता है तो उस समय उसके मन में कठोरता भड़कती है। बिना कठोरता के कोई किसी पर अपना हाथ भी नहीं उठा सकता है। कोमलता जिसके मन में होती है, वह किसी को मारने की चेष्टा तो क्या, मारने का विचार भी नहीं लाता है, बल्कि वह किसी भी मरने वाले की प्राणप्रण से रक्षा करना चाहेगा। कोमल भावों वाला व्यक्ति अहिंसक होता है। लेकिन जिसका मन पत्थर सरीखा कठोर है, उसके सामने यदि अपराधी या निरपराधी प्राणी भी आ गया तो वह उसको मारने में संकोच नहीं करेगा। अज्ञानी व्यक्ति ऐसा ही होता है। वह जंगल

में चलते-चलते किसी वनस्पति को उखाड़ कर फेंक देता है या साँप, बिच्छू को देखते ही मार डालता है अथवा चलते हुए निरर्थक हिंसा कर गुजरता है। वह हिंसक हो जाता है। वह भी हिंसक कहलाता है जो स्वयं मारने की तैयारी नहीं कर रहा है, लेकिन उसके सामने कोई दूसरा किसी को मार रहा है और वह उसकी रक्षा नहीं कर रहा है। जो दूसरों के प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता है, वह स्वयं भी हिंसा से बच नहीं सकता है। मारना तो हिंसा का पाप है ही, लेकिन मरते हुए की रक्षा न कर पाना भी हिंसा के पाप का कारण बनता है—यह शास्त्रकारों की दृष्टि है।

कल्पना करें कि एक क्रूर व्यक्ति आप पर नंगी तलवार लेकर खड़ा है और आपको मारना चाहता है, उस वक्त आपकी आत्मा क्या कहेगी? प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिये कि इस तरह नंगी तलवार लेकर जो मारने के लिये खड़ा है, उसको पापी कहेंगे या धर्मी, हिंसक कहेंगे या अहिंसक? आपकी अन्तरात्मा यही कहेगी कि वह क्रूर है, निष्ठुर है और हिंसक है तथा हिंसक है तो पापी है। एक और दूसरा व्यक्ति भी आपके पास में खड़ा है। वह आपको मार नहीं रहा है, लेकिन उसके अन्दर ऐसी भावना नहीं है कि वह मारने वाले को बोले कि तू इसको क्यों मारता है—जैसी तेरी आत्मा है, वैसी ही इसकी भी आत्मा है। यदि वह इतने से शब्दों का भी प्रयोग कर लेता है तो उसके प्रति आपकी आत्मा में क्या भावना उठेगी? वह बोलता है तो रक्षक बनता है और नहीं बोलता है तो अप्रत्यक्ष रूप से ही सही—वह भी हिंसक दिखाई देगा। शक्ति होते हुए भी अगर वह रक्षा नहीं करता है तो उसे आप हिंसक ही मानेंगे। एक तीसरा व्यक्ति है, जिसमें इतनी शक्ति नहीं है लेकिन रक्षा की भावना है और वह पहले व्यक्ति का आपकी रक्षा की भावना से मुकाबला करता है और कहता है कि मैं तुझे अपनी आंखों से देखते हुए उसके प्राणों की घात नहीं करने दूंगा तो उसके लिये आपकी अन्तरात्मा क्या कहेगी? वह आपको पापी मालूम होगा या धर्मी? वह चाहे आपकी रक्षा नहीं भी कर सके, फिर भी उसे आप अहिंसक कहेंगे। यह सब भावनाओं का व्यापार है। भावनाओं की कसौटी पर ही हिंसा और अहिंसा की स्थितियों की परख होती है तथा यह ज्ञात किया जा सकता है कि किसका स्वभाव कोमल है तथा किसका कठोर? बाह्य चेष्टाओं से ही किसी की आन्तरिक भावनाओं का प्रकटीकरण होता है।

कोमलता से करुणा फूटती है और करुणा से स्नेह :

किसी के भी हृदय में जब कोमलता की भावना होती है तो वही कोमल भावना बाहर करुणा के रूप में फूटती है और करुणा की अभिव्यक्ति सदा ही स्नेह का सुहावना वातावरण तैयार करती है। किसी भी आत्मा को आत्मीयता प्रिय लगती है। जिस समय रावण सीताजी को उठाकर ले जा रहा था, उस समय जटायु नाम के पक्षी ने रावण का मुकाबला किया और सीताजी को छुड़ाने का यत्न—चाहे वह यत्न सफल नहीं हुआ। उस जटायु को आप क्या कहेंगे? वह अहिंसक था या हिंसक? उसने अपनी सारी शक्ति लगा कर सीताजी को छुड़ाने का—उनकी रक्षा का प्रयत्न किया और अपना जीवन भी निछावर कर दिया। राम जब सीता जी को खोजते हुए उधर से निकले तो उन्होंने जटायु को कितना स्नेह दिया? जटायु के मन में कोमलता थी, रक्षा की भावना थी और रावण कठोर था, क्रूर था, उसने जटायु के पंख काट दिये, उसको घायल कर दिया। और पुरुषोत्तम राम करुणा से आप्लावित हो उठे, उन्होंने उसको गोद में बैठाया—उसे स्नेह दिया। वे महापुरुष यह जानते थे कि जटायु की अन्तर्वृत्तियों में कितनी कोमलता थी। यह कोमलता ही अहिंसक वृत्ति एवं प्रवृत्ति की मूल होती है।

जटायु को राम का स्नेह मिला तो उसकी कोमल वृत्ति के कारण मिला या क्रूर वृत्ति के कारण—अहिंसक भावना से मिला या हिंसक भावना से? वह कोमल वृत्ति थी—अहिंसा थी। यह आत्म-गुण होता है। दूसरों के दुःख की देखकर हृदय का द्रवित हो जाना—पिघल जाना—यह आत्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। ऐसी आत्मिक शक्ति वाले प्राणियों पर महापुरुषों की कृपा होती है। जटायु की कोमलता, करुणा और रक्षा भावना प्रकट हुई तो उसे राम की गोद मिली। सर्व जन्तु-हितकारिणी करुणा में जीवन की उत्कृष्टता :

संसार के सर्व जन्तुओं के प्रति जो हितकारिणी करुणा होती है- रक्षा की भावना होती है, वही अहिंसा की उत्कृष्टता होती है। ऐसी सर्वोच्च उत्कृष्टता परमात्मा-स्वरूप में प्रतिबिम्बित होती है। उसी उत्कृष्टता के प्रति कवि अपनी प्रार्थना की रचना में भाव-विभोर हो उठा और वह गाने लगा-

सर्व जन्तु हितकारिणी करुणा,
कर्म विदारण तीक्ष्ण रे ।
हानादान रहित परिणामी,
उदासीनता वीक्षण रे ॥

हे भगवन्, आप सर्व जीवों की हितकामना से परिपूरित करुणा के सागर हैं। आपकी करुणा इतनी कोमल और अहिंसक है कि छोटे से छोटे प्राणी के हित के लिये भी आप द्रवित हो उठते हैं। उसके लिये भी कभी कठोरता पैदा नहीं होती है। आप ही के मार्ग का अनुसरण करके हितकारिणी करुणा के साथ साधु चलता है-श्रावक चलता है और उसको चलना चाहिये।

साधु छोटी हिंसा को भी अधिक मान कर चलता है। और तो दूर रहा-साधु स्वयं हरी वनस्पति पर पैर नहीं देता, लेकिन भिक्षा देते समय यदि श्रावक का पैर भी हरी वनस्पति पर पड़ गया तो साधु उस भिक्षा को ग्रहण नहीं करता है। वह उस भिक्षा को छोड़ कर चला जाता है तथा उस पूरे दिन वहां से भिक्षा नहीं लेता है। यद्यपि साधु स्वयं ने वनस्पति के जीवों को नहीं सताया लेकिन साधु की अहिंसा इतनी ऊंची मानी गई है कि वह अपने लिये दूसरों के द्वारा भी किसी जीव को सताया जाना सहन नहीं करता है। श्रावक ने ध्यान नहीं रहने से वनस्पति पर पैर दिया तो यह उसके हृदय की कठोरता के कारण हुआ और कठोरता उसमें आ गई तो वह हिंसक हो गया। हिंसक के हाथ से यदि साधु ने भिक्षा ग्रहण की तो यह समझा जायगा कि उसने उस हिंसा को अपनी अनुमोदना दे दी। साधु को ऐसी अनुमोदना के माध्यम से भी अपने हृदय में कठोरता का प्रवेश नहीं होने देना चाहिये। साधु के हृदय की कोमलता टूटती है तो उसकी करुणा विकृत बनती है- अहिंसा खण्डित होती है और यदि ऐसा होता है तो वह अपने पहले महाव्रत से विचलित होता है।

इतनी उच्चकोटि की हित-साधना, इतनी उत्कृष्ट कोमलता तथा इतनी भावपूर्ण करुणा साधु के जीवन में होती है। फिर भला क्या वह किसी भी प्राणी का तनिक भी अहित कर सकता है। लेकिन ऐसे साधुओं को पहिचानने के लिये भी परीक्षा बुद्धि की आवश्यकता होती है। लोगों में महात्माओं को पहिचान पाने की दृष्टि भी भिन्न-भिन्न होती है। एक सच्चा साधु अपनी समदृष्टि से सबको पुण्यशाली के रूप में देखता है, लेकिन देखने वाले एक सच्चे साधु को कितने अंशों में पहिचान पाते हैं-यह दूसरी बात है। कोई किसी रूप में देखते हैं, कोई किसी रूप में। विवेकशील वही गिना जाता है जो सच्चे साधुत्व की परीक्षा कर लेता है और अपने जीवन को उनके चरणों में समर्पित कर देता है। ऐसा विवेक उसी व्यक्ति के मन में जागता है जिसके मन में तरल कोमलता होती है। कठोर मनवाले तो साधु को अपना शत्रु तक समझ लेते हैं, किन्तु कोमल मनवाले सर्व जन्तु-हितकारिणी करुणा को समझते हैं तथा उसका अनुसरण करके अपने जीवन को उत्कृष्ट बना लेते हैं।

अपने हृदय की कोमलता तथा कठोरता का अनुसन्धान करते रहिये:

यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि कठोर से कठोर व्यक्ति को भी कोमलता प्रिय होती है। जब किसी कठोर व्यक्ति का जीवन संकटग्रस्त हो रहा हो और कोई अपने हृदय की कोमलता दिखाकर उसकी रक्षा कर ले तो क्या उसका वह रक्षक उसको प्रिय नहीं लगेगा? अज्ञान और प्रमादवश एक व्यक्ति कठोरता और हिंसा का आचरण अवश्य करता है, लेकिन समय आने पर उसको कोमलता का मूल्य भी समझ में आता है। सबका भला चाहने और करने वाली कोमलता भला किसके हृदय को परिवर्तित नहीं कर सकती है?

प्रश्न यह है कि हृदय में कोमलता होनी चाहिये तथा कोमल वृत्तियों का विकास होते रहना चाहिये। आप भी अपने हृदय की कोमलता तथा कठोरता का अनुसन्धान करते रहिये इस प्रयोजन के साथ कि कठोरता घटती रहे और कोमलता बढ़ती रहे। संसार के समस्त जीवों के प्रति करुणा का भाव प्रबल हो-सबकी रक्षा करने की चेष्टा हृदय में जागृत रहे।

अभी कोमलता के गुण का कुछ विश्लेषण किया गया है, किन्तु भगवान् शीतलनाथ के समान अपने जीवन में भी कोमलता, कठोरता एवं उदासीनता के तीनों गुणों का श्रेष्ठ सामंजस्य प्रकट हो सके तो अपना जीवन भी उस परम पवित्र परमात्म स्वरूप की दिशा में प्रगतिशील हो सके।

गंगाशहर-भीनासर

दि.27-9-77

5. तीक्ष्णता और उदासीनता कहां और कैसे ?

शीतल जिनपति, ललित त्रिभंगी.....

मानव जीवन की गतिविधियां भिन्न-भिन्न प्रकार से दृष्टिगत होती हैं। यदि उन गतिविधियों का वर्गीकरण किया जाय-सजातीयता की दृष्टि से उनको विभाग में लेवें तो दो प्रकार के परिणाम सामने आते हैं। एक गतिविधि अशुभ होती है-वह बुरी भावना के साथ बुरे कार्यों की तरफ बढ़ती है तो दूसरे प्रकार की शुभ गतिविधि शुभ भावनाओं के साथ समग्र जीवन व्यवहार की शुभता में ओत-प्रोत रखती है और वह शुभ अनुष्ठान का आश्रय लेकर ही क्रियाशील बनती हैं।

दोनों प्रकार की गतिविधियों वाले प्राणी इस संसार में देखें जा सकते हैं और यदि इस आधार पर समस्त प्राणियों का विभागीकरण करना हो तो मुख्य तौर पर दो विभाग बनते हैं। जहां अशुभ प्रवृत्ति होती है, वहां भी गुण रूप में शुभता की भावना आ सकती है तो जहां शुभता का जीवन होता है, वहां पर भी गुण रूप में अशुभता का प्रसंग आ सकता है। लेकिन जहां तक कथन करने का प्रसंग है, व्याख्या करने की अनुकूलता होती है, वहां बहुलता की दृष्टि से ही व्यवहार होता है। जैसे एक बगीचे में पांच सौ वृक्ष आम के हों और दस-बीस वृक्ष नीम के हों-तब उसे आमों का बगीचा ही कहेंगे। नीम के वृक्षों की गिनती कथन में नहीं आयेगी। इसके विपरीत यदि नीम के वृक्षों तथा आम के वृक्षों की संख्या हो तो उसे नीम का बगीचा कहा जायगा-थोड़े से आम के वृक्षों का उल्लेख कथन में नहीं आयगा। जीवन में भी शुभता और अशुभता का इसी रूप में मूल्यांकन किया जाता है।

मूल्यांकन का यही दृष्टिकोण प्राथमिक रूप से कोमलता, तीक्ष्णता तथा उदासीनता के तीनों गुणों के साथ भी रखना होगा। कोमलता के गुण के सम्बन्ध में विचार किया गया है और अब तीक्ष्णता तथा उदासीनता के गुणों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

शीतल जिनपति की यह ललित त्रिभंगी क्या है ?

कवि ने उपरोक्त प्रार्थना में भगवान् श्री शीतलनाथ की ललित त्रिभंगी के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया है-

पर दुःख छेदन इच्छा करुणा, तीक्ष्ण पर दुःख रीझ रे।

उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामे एम सीझे रे ॥

प्रभु में एक साथ करुणा अर्थात् कोमलता, तीक्ष्णता याने कठोरता तथा उदासीनता के तीनों गुणों की विद्यमानता है। यही उनकी ललित त्रिभंगी है।

प्रभु की करुणा सामान्य करुणा नहीं है, वह सर्व जन्तु-हितकारिणी करुणा है। संसार के समस्त प्राणियों के प्रति कोमलता का प्रवाह तभी प्रवाहित होता है जब किसी के मन में समता भावना अपनी सर्वोच्च उत्कृष्टता में उद्भूत होती है। विषमता का जब लेश मात्र भी नहीं बचता है और समभावों की परम श्रेष्ठता प्रकट होती है तभी सभी प्राणियों के प्रति समान कोमलता की वृत्ति का निर्माण होता है। इस रूप में वह परमात्म स्वरूप अपार करुणा का सागर हो जाता है। इस करुणा की व्याख्या करते हुए कवि कहते हैं कि वह करुणा पर दुःख छेदन की इच्छा के रूप में होती है। करुणा केवल भावना ही नहीं, कृति के रूप में भी परिवर्तित होती है। संकटग्रस्त प्राणियों को देखकर हृदय द्रवित होता है तो फिर उनके दुःखों को दूर करने की इच्छा भी बलवती होती है। करुणा का इस प्रकार संवेदनशील तथा व्यावहारिक स्वरूप होता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रभु का स्वरूप जहां कोमलता से परिपूरित होता है, वहां उनकी तीक्ष्णता याने कठोरता भी आदर्श रूप होती है और यह तीक्ष्णता ही एक प्रकार से कोमलता की जननी होती है। उनकी यह तीक्ष्णता प्रकट होती है कर्मों के विदारण में-उनको पूर्ण रूप से क्षय करने में। कर्म क्षय के बिना मोक्ष नहीं होता और इस कारण कर्मों को आत्मा के अरि याने शत्रु कहा गया है तथा इन अरियों को नष्ट करने पर ही अरिहन्त का पद प्राप्त होता है। शत्रुओं को नष्ट करने में अवश्य ही तीक्ष्णता और कठोरता की ही आवश्यकता होती है। तो प्रभु ने अपनी ही आत्मा के प्रति कठोरता का व्यवहार किया, तपाराधन किया तथा वे कर्मों को क्षय करके रहे। उसी तीक्ष्णता के फलस्वरूप उन्हें अरिहन्त का पद प्राप्त हुआ जिसके प्राप्त होने पर ही स्व-पर कल्याण के उपदेश देकर उन्होंने समस्त संसार पर अपार करुणा की वर्षा की। उनके स्वभाव की यही तीक्ष्णता दूसरों के दुःख के प्रति उनको परम संवेदनशील बना देती है। इसीलिये कहा है-तीक्ष्ण पर दुःख रीझे रे।

तीसरा गुण है-उदासीनता का गुण। यह उदासीनता कैसी है? प्रभु की करुणा का सर्वत्र जय जयकार होता है किन्तु वे इस जय जयकार के प्रति पूर्णतः उदासीन रहते हैं। उनके मन में एक प्रशंसक या निन्दक के प्रति समान भाव रहता है। वे अपनी प्रशंसा या निन्दा के प्रति उदासीन रहते हैं। यह उनकी दोनों दिशाओं की उदासीनता विलक्षण होती है। इस प्रकार एक ही स्थान पर इन तीनों गुणों की विद्यमानता उनके स्वरूप को अलौकिकता प्रदान करती है। शीतल जिनपति की यह त्रिभंगी मन को प्रभावित करने वाली है।

त्रिभंगी की प्रभाविकता एवं अशुभता से शुभता की ओर गति :

इस त्रिभंगी का सामान्य मन पर यह प्रभाव होता है कि एक विकासोन्मुख आत्मा अपने कर्मों के क्षय की ओर क्रियाशील बनती हुई कोमल करुणा की अनुगामिनी बनने लगती है। इससे उस आत्मा में पवित्र भावनाओं की लहर पैदा होती है तथा दिन प्रतिदिन उस लहर का पोषण होता है। यह लहर दोनों वर्गों के प्राणियों पर अपना असर डालती है। जिस वर्ग में अशुभता अधिक और शुभता कम होती है, वह अशुभता से शुभता की ओर गतिशील बनता है तो जिस वर्ग में पहले से शुभता का बाहुल्य है, वह अपनी शुभता को उत्कृष्टतर बनाता जाता है।

पवित्र भावनाओं की लहरों से आप्लावित होते हुए व्यक्ति का यह संकल्प बनता है कि उसके जीवन में अशुभता रहे ही नहीं और आवे ही नहीं तथा वह शुभता ही शुभता में रमण करे। इस संकल्प के साथ ही उसके विचारों में अपने बंधे हुए पूर्व संचित कर्मों के प्रति तीक्ष्णता उत्पन्न हो जाती है कि वह उन कर्मों को नष्ट करदे क्योंकि उनको नष्ट किये बिना आत्मा का मूल स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है। प्रभु महावीर ने दोनों वर्गों को सम्बोधित करते हुए उद्बोधन दिया है-

एगो विरइं कुज्जा, एगओय पवत्तणं ।
असंयमे नियव्वइ च, संजमे यप्पत्तणं ॥

उन्होंने जीवन विकास के लिये कुछ विधियां बताई हैं। ये विधियां अतीव महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये स्वानुभव पर आधारित हैं। महावीर का जीवन भी कई बातों में और कर्मों की संलब्धता की दृष्टि से सामान्य मानव के समान था। सिद्धार्थ महाराज जो क्षत्रिय थे, उनके यहां वर्धमान का जन्म हुआ। महावीर का पहले का नाम वर्धमान था। बाल्यकाल वर्धमान भी मनुष्य की ही संतान थी, लेकिन उस आत्मा ने पूर्व जन्म में जो शुभता अर्जित की थी-वीतराग-वाणी की आराधना की थी, बीस बोलों की आराधना की थी, उसके फलस्वरूप तीर्थंकर नाम पुण्य कर्म का उपार्जन किया था। उसी पुण्यवानी से उन्हें बाहर का वैभव मिला किन्तु उस वैभव को भी उन्होंने त्याग दिया और आत्म-वैभव को प्राप्त करने के लिये अपने पुरुषार्थ के बल पर वे अग्रगामी बने। सम्पूर्ण शुभता की दिशा में वे प्रगतिशील हुए।

अशुभता और शुभता का मूल्यांकन उन्होंने कैसे किया? उन्होंने मानव जीवन के स्वरूप को गहराई से देखा। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के अधिकांश सांसारिक कार्य वे ही हैं जिन्हें एक पशु भी करता है, फिर मानव जीवन की विशेषता मात्र इन कार्यों के करने में नहीं है। मनुष्य विचार और विवेक का धनी होता है। वह शुभ और अशुभ का भेद समझता है तो उसकी समझ का यही परिणाम निकलना चाहिये कि वह बाह्य वैभव के प्रति मोह रूप अशुभता से बाहर निकले और आत्म-वैभव को प्राप्त करने की शुभता की दिशा में गतिशील बने। शुभ भावों से शुभ कार्यों में प्रवृत्ति हो तथा शुभ कर्मों का उपार्जन किया जाय। वे शुभ कर्म जब उदय में आवें और जीवन विकास के सुअवसर मिलें तब सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का पराक्रम प्रकट किया जाय। अशुभता से शुभता की ओर प्रगति इसी रूप में की जा सकती है जब त्रिभंगी का भी बराबर ध्यान रहे। कर्म विदारण के प्रति तीक्ष्णता, सर्व जन्तुओं के प्रति कोमलता तो उदासीनतापूर्वक समभावों में रमण करने की वृत्ति शुभता को व्याप्त बना देती है।

तीक्ष्णता का प्रयोग कहाँ और कैसे ?

जीवन की जो अशुभता होती है, वही जीवन को विकृत तथा पतित बनाने वाली होती है। इस अशुभता में जितने अंशों में शुभ भावों का प्रवाह बहता है, उतने अंशों में पुण्य उपार्जन करने का प्रसंग रहता है। पशु योनि में भी यदि ऐसे पुण्य का अर्जन होता है तो वह आत्मा पशु योनि से निकल कर मनुष्य जीवन को प्राप्त कर सकती है। इसी रूप में यदि मनुष्य अपने जीवन को अशुभता से रंगता रहता है तो वह भी अपने इस अमूल्य जीवन को निरर्थक बना कर पशु योनि में जा सकता है। तो जीवन की इस अशुभता पर तीक्ष्णता का-कठिन कठोरता का प्रयोग होना चाहिये।

तीक्ष्णता का यह प्रयोग कहाँ और कैसे हो? जो वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ स्वस्थ जीवन-विकास की विरोधी है, उनके प्रति कहीं भी किसी भी रूप में नरमी की जरूरत नहीं है। उन्हें दूर करने के लिये तो प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक समय में तीक्ष्णता का प्रयोग चलता रहना चाहिये। यह प्रयोग कैसे चले? शत्रु सामने हो और उसे जीत लेने का संकल्प सुदृढ़ हो तो तीक्ष्णता का प्रयोग कठिनतम होता है क्योंकि सम्पूर्ण चेष्टा यही रहती है कि शत्रु को समूल नष्ट कर दिया जाय। यह चेष्टा अशुभता रूप कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के लिये कठोरतम होनी चाहिये।

जबकि मनुष्य जीवन सम्पूर्ण शुभता को प्राप्त कर लेने का श्रेष्ठतम अवसर होता है, फिर भी यह मानव जीवन अशुभता से विकृत क्यों बन जाता है? कारण साफ है। जो मनुष्य इस अमूल्य जीवन को मात्र भोग का साधन समझता है और बनाता है, वह अशुभता से रंगता जाता है। ऐसी अशुभता के प्रति जब तक वह तीक्ष्णता के प्रयोग द्वारा कर्म क्षय का पुरुषार्थ नहीं करता है तब तक वह अपने जीवन को विकासशील भी नहीं बना पाता है।

इस मनुष्य जीवन का लक्ष्य भोग नहीं है। आप बढ़िया से बढ़िया भोजन करते रहें, बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहिनें, बढ़िया हवेली में रह जावें और अपने पीछे सन्तान छोड़ जावें-क्या इतने मात्र से मानव जीवन सार्थक हो गया है? क्या यह कहा जा सकता है? यदि इन्हीं कार्यों में मनुष्य अपने जीवन को बिता देता है तो समझिये कि वह अपने जीवन की बहुत बड़ी क्षति करता है। इतनी क्षति कि जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं होती है। हाथ में एक अमोल रत्न आ जाय और उसे बेपरवाही में खो दें तो क्या वह फिर आसानी से मिल सकता है? इसीलिये इस भोग वृत्ति के प्रति

महावीर ने तीक्ष्णता का प्रयोग किया। उनके अन्तःकरण में ये भाव तरंगे आलोडित होने लगी कि आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की पशु वृत्तियों से ऊपर उठ कर मानव जीवन की समुन्नति के लिये कठोर तपस्या करनी चाहिये। इस भोग के जाल को जब तक नहीं तोड़ते हैं, तब तक आत्मा की विशिष्ट शक्ति -कोमल करुणा प्रकट नहीं हो सकती है। तपस्या के माध्यम से प्राप्त शुद्धि के वातावरण में ही ज्ञानार्जन की तीक्ष्णता पैदा होती है। ज्ञान और तप की तीक्ष्ण शक्ति के द्वारा कर्मों के बन्धनों का विदारण होता है। आत्मा कर्मों के प्रति तीक्ष्ण भावों के साथ ही अपने स्वरूप को निखारने तथा करुणा की स्वामिनी बनने में सक्षम बनती है।

तीक्ष्णता और तीव्रता के भावों से ही जीवन की वास्तविक जागृति।

जिस आत्मा में तीक्ष्णता और तीव्रता के भावों से ज्ञान और तप की विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है, उसी आत्मा के जीवन में वास्तविक जागृति की झलक दिखाई देती है। उसमें अपने जीवन की ठीक तरह से सम्भालने, चलाने और आगे बढ़ाने की क्षमता पैदा हो जाती है। ऐसी आत्मा को कभी तीर्थकरों की वाणी सुनने, सन्तों के समीप जाने अथवा शास्त्रों को श्रवण करने का अवसर न भी मिले, तब भी उसमें इतनी तीव्रता आ जाती है कि वह अपनी स्वयं की प्रेरणा से जीवन को जागृत बनाती है तथा स्वयं ही आत्मशोधन तथा आत्म-संशोधक बन जाती है।

महावीर की आत्मा में जब ऐसी तीक्ष्णता और तीव्रता पैदा हुई तो वे राजमहल छोड़कर जंगल में चले गये और घोर तपस्या में लीन हो गये। वह उनकी कर्म विदारण के प्रति अपूर्व तीक्ष्णता का स्वरूप था। अज्ञानियों तथा अनार्यों द्वारा दिये गये भयंकर दुःखों में भी वे अडोल बने रहे तथा मोह आदि कषायों से दूर रह कर अपने घनघाती कर्मों को क्षय करते रहे। उस कार्य के प्रति उनकी अपूर्व कठोरता प्रकट होती रही। वे अपनी जीवन साधना को तीक्ष्णता के साथ साधते हुए चलते रहे। उसी तीक्ष्णता का सुफल प्रकट हुआ कि दुःख देने वालों के प्रति भी उनके हृदय से कोमलता बरसने लगी। संगम देव ने एक ही रात्रि में उनको कितने भयंकर कष्ट दिये, लेकिन समभावों के सामने संगम को अपनी हार माननी पड़ी। उसको भी प्रभु ने करुणा दी और उसे जीवन विकास की ओर मोड़ा। जहर देने वाले चण्डकौशिक सर्प को भी उन करुणा के स्वामी ने करुणा करके जीवन की श्रेष्ठता प्रदान की। उन्होंने अपने घनघाती कर्मों को नष्ट किये, केवलज्ञान प्राप्त किया तथा चतुर्विध संघ की स्थापना करके तीर्थकर पद को धारण किया।

ध्यान रखिये कि जीवन की वास्तविक जागृति ही मुख्य होती है। केवलज्ञानी और तीर्थकर भी आकाश या पाताल से प्रकट नहीं होते हैं। वह भी मनुष्य ही होता है किन्तु अपने तीक्ष्ण पुरुषार्थ से उस प्रगति को प्राप्त करता है। पुरुषार्थ करके एक मनुष्य ही अपने जीवन को शुभ से शुभतर और शुभतर से शुभतम बना सकता है।

इसलिये इस जीवन के दूषणों को अति तीक्ष्णतापूर्वक समाप्त करके आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया साधना चाहिये। पुरुष जब तक अपूर्ण रहता है, तब तक उसमें एक ही दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है। यदि वह कठोर बन जाता है तो कठोर ही कठोर रह जाता है। कोई कोमल बनता है तो ऐसा कोमल बन जाता है जिसे दुनिया गोबर गणेश कहने लगती है। लेकिन जीवन में विशिष्ट साधना के बाद कोमलता, कठोरता एवं उदासीनता-इन तीनों गुणों का सुन्दर सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है एवं ललित त्रिभंगी का निर्माण हो जाता है। ऐसी ललित त्रिभंगी जैसी कि शीतल जिनपति के स्वरूप में कविद्वारा वर्णित हुई है।

उदासीनता की भावना समता की वाहक होती है:

एक ही आत्म-स्वरूप में जहां इन तीन विपरीत गुणों की त्रिभंगी हो और वह भी कैसी कि सबका मन मोहने वाली-तो यह विशेषण क्यों दिया गया है? इस ललित त्रिभंगी के धारक में करुणा इतनी-कोमलता इतनी कि घोर शत्रु के प्रति भी अपने मन में पूर्ण रूप से सद्भाव बना रहता है। उसके लिये भी यही हितकारिणी भावना रहती है कि इसका भी आत्मकल्याण हो। इसके साथ ही जो अपना परम मित्र, प्रशंसक या सम्बन्धी हो, उसके लिये भी वैसी ही हितकारिणी

भावना विद्यमान रहती है कि उसका भी आत्मा-कल्याण हो। न द्वेष, न राग। वीतराग अवस्था ही वास्तव में उदासीनता के गुण की सच्ची घोटक होती हैं।

वस्तुतः द्वेष पर फिर भी नियन्त्रण आसान है लेकिन राग पर विजय बड़ी कठिन होती है और इसलिये कठिन होती है कि राग-मोह से संयुक्त होता है। यही कारण है कि द्वेष और राग दोनों से रहित बनने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे वीतराग अवस्था कहते हैं अर्थात् जिसका राग व्यतीत हो गया है। कोमलता एवं कठोरता के साथ यह उदासीनता की सर्वोच्च अवस्था होती है।

उदासीनता का अर्थ होता है निर्लिप्तता। न मन की लिप्तता इस ओर न मन की लिप्तता उस ओर। अपमान के प्रति भी तटस्थता और सत्कार सम्मान के प्रति भी तटस्थता। ऐसी निर्लिप्तता जिस आत्मा में आती है, उसी आत्मा को यथार्थ अर्थ में उदासीन आत्मा कहते हैं और उसमें हानादान रहित गुण होता है। हानादान याने क्षति और हानि। अपनी कितनी ही क्षति हो फिर भी उदासीन भावों में अन्तर नहीं आवे। शरीर के किसी भी हिस्से पर आग की चिनगारी भी पड़ जावे तो चौंक पड़ते हैं, लेकिन भगवान् महावीर के पैरों पर एक अज्ञानी ने खीर पकाई तब भी उनके मन में तटस्थता बनी रही। इस रूप में उदासीनता का उदात्त गुण परिपुष्ट बनता है।

उदासीनता की उदात्तता से शुद्ध समता के भावों की सृष्टि होती है। यह महावीर प्रभु की श्रेष्ठ समता थी कि अपने ही पैरों पर खीर पकाने वाले के प्रति भी रंच मात्र दुर्भावना उनके मन में नहीं आई बल्कि उसके लिए भी उनके मन में अपार करुणा ही जागी कि इसका भी आत्म-कल्याण हो जाय। ऐसे समभाव की स्थिति आदर्श स्थिति कहलाती है, इसीलिये उदासीनता की भावना को समता की वाहक कहते हैं। विशिष्ट पुरुषों में कठोरता कर्मनाशिनी होती है, करुणा सर्व जन्तु हितकारिणी होती है तो उदासीनता समता प्रसारिणी होती है।

समता के अवस्थान के आधार पर आत्माओं का वर्गीकरण :

आज के मनुष्य के मन में समता का भाव कहां और कितना रहता है? आग की कोई चिनगारी तो दूर रही- एक छोटा-सा मच्छर काट जावे, तब भी झल्ला उठते हैं और उस छोटे से जन्तु के लिये भी ऐसा द्वेष उपजता है कि कई भाई उसके लिये भी जोर का झपाटा लगा देते हैं। वह तो अज्ञानी छोटा जीव होता है, उसको भी मारने के लिये तैयार हो जाते हैं। ऐसा द्वेष कितनी हीनता लिये हुए होता है? जब द्वेष ही ऐसा हो तो राग कैसा और कितना होगा? ये द्वेष और राग की काषायिक वृत्तियां मोह का मापदण्ड होती हैं और जितना गहरा मोह है, उतनी ही आत्मा की गहरी पतनावस्था है-यह मानकर चलना चाहिये। कितनी पतित आत्मा है, उतनी ही वह समता के अवस्थान से दूर रहती हैं।

समता या समभाव से दूर रहने वाली आत्मा में इन तीनों गुणों का भी विकृत रूप पाया जाता है। कोमलता है तो दुर्गुणों के प्रति जिनको सहज ही में अपनाती हुई वह पतन की ओर बढ़ती जाती है। उसकी कठोरता का रूप दूसरों के प्रति क्रूरता एवं निष्ठूरता के रूप में दिखाई देता है। उसकी उदासीनता होती है तो अपने ही आत्म-कल्याण के प्रति-वरना वह राग और द्वेष से भरी हुई होती है। इस कारण समता को समझना तथा समता के अवस्थान की दिशा में प्रगति करना- यह एक विकासशील आत्मा के लिये आवश्यक होता है।

ऐसी विकासशील आत्मा जब अपने स्वरूप का श्रेष्ठ विकास करती हुई चली जाती है तो ये तीनों गुण भी वास्तविक रूप में विकसित हो जाते हैं। इस ललित त्रिभंगी अर्थात् समता के अवस्थान में आत्मा का कितना उत्कृष्ट स्वभाव बन जाता है? महावीर प्रभु के पैरों पर खीर पका ली और गजसुखमाल जी के मस्तक पर धधकते अंगारे रख दिये, तब भी उनके समभावों में कोई चंचलता उत्पन्न नहीं हुई। उन महापुरुषों ने उन कष्ट देने वालों के प्रति भी अपनी हार्दिक करुणा बरसाई। कोई उनके शरीर के साथ क्रूर खिलवाड़ करे तब भी करुणा और कोई उनके चरणों में लोटपोट होकर उनका गुणगान करे तब भी करुणा-निर्लिप्त करुणा। ऐसी होती है उत्कृष्ट समता।

ऐसे श्रेष्ठ समभावी पुरुषों के प्रति जिनकी सच्ची श्रद्धा होती है, वे केवल उनका गुणगान करके ही नहीं रह जाते हैं, बल्कि उनके गुणों को यथासाध्य एवं यथाशक्ति अपने जीवन में ग्रहण करने के लिये भी सचेष्ट बनते हैं। उनकी यह चेष्टा ही उनके आत्म-कल्याण की कारणभूत होती है तथा इसी चेष्टा की सक्रियता के आधार पर उनकी गुणब्राह्मकता परिपुष्ट बनती है और वे समता के अवस्था की ओर गतिशील बनते हैं। समता के अवस्थान के प्रति इस गतिशीलता के आधार पर ही आत्माओं का वर्गीकरण किया जा सकता है कि कौनसी आत्मा किस स्तर है।

वर्गीकरण का मुख्य आधार तीक्ष्णता और उदासीनता:

ललित त्रिभंगी को प्राप्त करने की दिशा में कौन आत्मा किस स्तर पर चल रही है-इसकी परीक्षा का पहला मुख्य आधार यही हो सकता है कि वह अपने कर्मों को क्षय करने के क्षेत्र में कितनी तीक्ष्णता-कितनी कठोरता से कर्मठ बनी हुई है? इस कार्य में वह जितनी तीक्ष्ण और उसकी तीक्ष्णता जितनी सफल होगी, उतना ही उसका वर्गीकरण उच्चतर कोटि में होगा। आत्म-विकास में यह तीक्ष्णता का गुण इसलिये आधारगत गुण बन जाता है कि ऐसी तीक्ष्णता से आत्म-स्वरूप निर्मल और निर्लिप्त बनता है। आत्म-स्वरूप जितना अधिक निखरता है, उतनी ही उससे करुणा की अजस्र धारा फूटती है, वीतरागता प्रदीप्त बनती है तथा समता की समरसता सर्वत्र ओतप्रोत हो जाती है।

तीक्ष्णता के साथ ही कोमलता और उदासीनता का सर्वोच्च विकास साधा जा सकता है। इसलिये आत्माओं का वर्गीकरण भी इन गुणों को आधार मानकर किया जाता है। वर्गीकरण कैसे किया जाता है-यह आप खूब जानते होंगे। आपकी तिजोरी में रुपये जैसे मोहरें सब हों तो वर्गीकरण कैसे करते हैं? मोहरे अलग, रुपये अलग तो अठन्नियां व चवन्नियां आदि की अलग-अलग ढेरियां बना लेते हैं और फिर उनको अलग-अलग भर लेते हैं। यह एक प्रकार का वर्गीकरण होता है। दूसरा वर्गीकरण करते हैं अनाज के व्यापारी। समझें कि अनाजों में ये भेल-संभेल हो गया हो तो गेहूं अलग किया जाता है और चना अलग किया जाता है तथा उसके साथ ही गेहूं को अपनी-अपनी किस्म के अनुसार भी वर्गीकृत किया जाता है।

वर्गीकरण की इसी भावना से प्रत्येक भव्य आत्मा को अपने भीतर झांकना चाहिये कि कितने सिक्के खरे हैं और कितने खोटे? कितना गेहूं अच्छे किस्म का है और कितना घूल भरा हुआ और सड़ा हुआ? और इस दृष्टि से आत्मा का वर्तमान स्वरूप किस वर्ग में चल रहा है? इस परीक्षा के बाद खोटे सिक्के बाहर फेंके-घूल और सड़न को झाड़ डालें, तब महसूस करें कि आत्मा अपने निम्न वर्ग से उच्च बर्न की ओर बढ़ रही है या नहीं? अशुभता से हट कर शुभता में प्रवृत्त हो रही है या नहीं? इसकी अनुभूति के साथ ज्ञान और कर्म के चरण आगे बढ़ने चाहिये ताकि ललित त्रिभंगी की दिशा में प्रगति हो सके।

असंयम के प्रति तीक्ष्णता और संयम के साथ उदासीनता:

जीवन किस प्रकार चल रहा है और किस प्रकार चलना चाहिये- इस पर निरन्तर चिन्तन करते रहें। असंयम से निवृत्ति हो तथा संयम में प्रवृत्ति बने-इस लक्ष्य के लिये असंयम के प्रति तीक्ष्णता उभरनी चाहिये ताकि असंयम जल्दी से जल्दी समाप्त हो सके। और ज्यों-ज्यों जीवन में संयम का विस्तार होता जायगा, त्यों-त्यों करुणा और समता का संचार भी होता जायगा। यही महावीर प्रभु का सन्देश है कि असंजमेय नियतिय, संजमेय पवत्तणं।

संयम की साधना ही मनुष्य जीवन की विशेषथा होती है, वरना आहार, निद्रा, भय तथा मिथुन वृत्तियों की दृष्टि से तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रहता है? इस सम्बन्ध में एक प्रसंग याद आ गया है। एक गुरु और शिष्य रास्ते से निकल रहे थे। गुरु गम्भीर थे-नीची दृष्टि के साथ चल रहे थे। चेला कुछ चंचल था-इधर-उधर देखते हुए उसने देखा कि एक स्थान पर कई व्यक्ति खीर खांड का भोजन जीम रहे थे। जीमते-जीमते एक व्यक्ति उठा और कुछ दूर जाकर वमन करने लगा। यह देखकर शिष्य से रहा नहीं गया, उसने गुरु से पूछा-खीर खाने से भी इस व्यक्ति को वमन क्यों हो रहा है? यदि खीर में कोई दूषण होता तो सभी वमन करते। उसने आत्मा में संशय पालना उचित

नहीं समझा। गुरु ने उत्तर दिया-नहीं खीर में कोई दूषण समझ में नहीं आता है, क्योंकि उसकी सुगन्ध आ रही है। खाने वाले ने विवेक नहीं रखा होगा-कोई अशुचि पर बैठने वाली मक्खी उसकी खीर पर बैठ गई होगी। शिष्य ने बीच में ही पूछ लिया- क्या सभी मक्खियां अशुचि पर बैठने वाली ही होती है। गुरु ने कहा-नहीं, मक्खियां कई प्रकार की होती हैं। एक गन्दगी फैलाने वाली होती है तो दूसरी फूलों का रस संचित करके शहद देने वाली भी होती है। एक बीमारी के भयंकर किटाणुओं को इधर-उधर करती है तो दूसरी हानिरहित भी होती है। इसी प्रकार मनुष्य भी कई प्रकार के होते हैं। एक उत्तम आचार-विचार एवं व्यवहार वाले उत्तम कुल के-जो सब के सहयोगी होते हैं। दूसरे नैतिकता से कमाते हैं और अपना काम चलाते हैं। एक ऐसे भी होते हैं जो चोरी डकैती आदि के घोर पाप करते हैं तथा पाप का पैसा पाप में ही खर्च करते हैं। दूसरे ऐसे भीषण कुकर्मी भी होती हैं जो अपने जीवन को भी बरबाद करते हैं और दूसरों के जीवन को भी बरबाद करते हैं और दूसरों के जीवन को भी बरबाद करते हैं। इस प्रकार गुरु ने दृष्टान्त के साथ शिष्य को मनुष्य की श्रेष्ठता का ज्ञान कराया। शिष्य को समझाया कि मिथ्या और मिश्रित अवस्था से हटकर सम्यक् साधना की ओर आगे बढ़ना चाहिये।

ललित त्रिभंगी को साधने की आप भी चेष्टा करें:

आप लोग कुछ जिज्ञासा वृत्ति से यहां पर बैठे हैं तथा परमात्मा की वाणी सुन रहे हैं। भगवान् की इसी वाणी को हृदय में उतारें कि असंयम के प्रति कठोर बनना है और संयम के द्वारा कोमलता तथा समता का विकास करना है। ऐसा करने से ही ललित त्रिभंगी सध सकती है।

इसलिये जीवन की आन्तरिकता में प्रवेश कीजिये और जानकारी लीजिये कि वहां कितना असंयम भरा पड़ा है? उसको देखकर कठोर बन जाइये, कठोर तप कीजिये और तीक्ष्णता के साथ उसे दूर हटाइये। तब संयम को पूरी तरह से अपनाइये, संसार के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता एवं कोमलता से अपने आपको ओत-प्रोत बनाइये तथा समता की उदासीन दिशा में आगे बढ़ जाइये। यही इस जीवन को सार्थक बनाने का मार्ग है।

गंगाशहर-भीनासर

दि० 29-9-77

6. आत्म-शक्ति का जागरण

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी आतमरामी नामी रे ।

अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

जीवन के परम पवित्र श्रेयमार्ग को प्राप्त करने के लिये उसके अनरूप ही प्रयत्न करना होगा। इस संसार के अन्दर जितनी भी वस्तुएं हैं, जितने भी पदार्थ एवं तत्त्व हैं, उन सब की परस्पर तुलना करेंगे तो उन सब में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोच्च तत्त्व आप आत्म-तत्त्व को ही पायेंगे। आत्मा की शक्ति से बढ़कर इस संसार में अन्य कोई श्रेष्ठ शक्ति भी नहीं है। जितने भी पदार्थ दृष्टिगत हो रहे हैं, वे जड़ तत्त्व होकर स्थायी रहने वाले नहीं हैं। वे तो बिखरने और नष्ट होने वाले हैं। अनेक परमाणुओं से मिले हुए ये पदार्थ पिंड रूप होते हैं जो परस्पर मिलते हैं, एक रूप की रचना करते हैं और बिखर जाते हैं किन्तु आत्म-तत्त्व ही ऐसा होता है जो स्थायी तथा शाश्वत होता है और असंख्य प्रदेश वाली यह आत्मा कभी बिखरती नहीं, कभी नष्ट होती नहीं।

इसके प्रदेशों में कभी घटत-बढ़त नहीं होती है। इतना बड़ा आत्मा का रूप और इतनी प्रदेशों की संख्या लेकिन उन सबमें एकजूटता बनी रहती है। इसके विस्तार की स्थिति से आत्म-तत्त्व एक अनन्त द्रव्य होता है। आकाश तत्त्व तो निर्जीव होता है लेकिन विस्तार की दृष्टि से आत्म-तत्त्व में भी विस्तार की उतनी ही क्षमता होती है। इस तत्त्व के असंख्य प्रदेश कभी भी मोच नहीं खाते तथा पृथक् नहीं होते हैं।

आत्म-तत्त्व का स्वरूप: इसका विस्तार और संकोच :

आत्म-तत्त्व के विस्तार की जहां कोई सीमा नहीं है, वहां इसमें संकोच भी बहुत है। इतने व्यापक और विस्तृत आत्म-प्रदेश जब संकुचित होते हैं तो इतने छोटे हो जाते हैं जो दृष्टि में भी नहीं आते हैं। दृष्टि में आना तो दूर रहा-सूक्ष्म दृष्टि यंत्रों से देखा जाय तब भी वे जीव पूरी तरह दिखाई नहीं पड़ते हैं और जीवों की एक अवस्था ऐसी भी है जहां सूक्ष्मदर्शक यंत्रों की गति भी नहीं है। आश्चर्य की बात है कि इतने बड़े आत्म-प्रदेश इतने संकुचित क्यों हो जाते हैं? इतने अधिक संकोच का क्या कारण है?

आत्मा का इतना छोटा रूप हो जाने का कारण यह है कि इस आत्मा ने अपने विराट् एवं विस्तृत रूप को कभी भली प्रकार समझा नहीं और वह संसार के छोटे-छोटे नाशवान दृश्य पदार्थों में रमण करती रही। इनकी तरफ ही उसकी दृष्टि गई और वह उनसे ही सम्पर्क साधती रही जिस के कारण उसका निज स्वरूप दबता रहा और

सिद्धान्त की दृष्टि से आत्म-तत्त्व एवं उसके स्वरूप का कथन बहुत विस्तृत रूप से किया गया है, वह स्वरूप-विवेचन व्यक्ति को जल्दी से समझ में नहीं आवे लेकिन वह व्यक्ति अपनी अनुमान शक्ति से भी बहुत कुछ इस तत्त्व की जानकारी कर सकता है। वह आत्मा के विस्तार एवं संकोच को भी जान सकता है। व्यक्ति के पास में बुद्धि होती है और इस बुद्धि का प्रयोग करके वह अपने सामने रहे हुए समग्र वातावरण के बीच में आत्म तत्त्व के अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य के सम्बन्ध में परिपक्व अनुमान लगा सकता है।

कल्पना करिये कि एक अधिक से अधिक पावर वाला बिजली का बल्ब हैं। उस बल्ब को एक अंधेरी रात्रि में एक विशाल मैदान में लगा दिया गया है तो बताइये कि उसका प्रकाश चारों ओर कितनी दूर तक फैल जायगा? एक सर्चलाइट के प्रकाश में लोग काफी बड़े क्षेत्र में अपना कार्य कर सकते हैं। उस तीव्र प्रकाश वाली सर्चलाइट पर कोई एक तपेला उल्टा धर दे तो वह सैंकड़ों गज में फैला हुआ प्रकाश क्या एक गज से भी कम स्थान में संकुचित नहीं हो जायगा? तपेले के अन्दर-अन्दर ही उसका प्रकाश सीमित हो जायगा, बाहर कुछ भी नहीं दिखाई देगा। वही बल्ब जल रहा है, उतने ही पावर के साथ जल रहा है और वैसा ही प्रकाश छिटक रहा है लेकिन उसे उस तपेले के जरिये एकदम संकुचित कर दिया गया। वह प्रकाश बुझा नहीं, नष्ट हुआ नहीं लेकिन उसका विस्तार सीमित हो गया। जो विशाल मैदान को प्रकाशित कर रहा था, वह एक छोटे से तपेले में बंध गया। समझें कि कोरे बल्ब पर एक बड़ी गिलास रखदी जाय तो वह प्रकाश एक गज के दायरे से भी तीन चार इंच के दायरे में बंध जायगा। और छोटे बल्ब में आवरण को और छोटा किया जा सकता है। तो यह सारी प्रक्रिया क्या हुई कि उस विस्तृत प्रकाश पर ज्यों-ज्यों आवरण चढ़ते गये त्यों-त्यों वह प्रकाश दबता गया, संकुचित होता गया और संकुचित होते-होते इतना छोटा हो गया।

वैसे ही आत्म प्रदेश अत्यन्त विशाल और व्यापक होते हैं, लेकिन कर्मों के आवरण जब उन पर चढ़ने लगते हैं तो उनकी व्यापकता संकोच खाने लगती है और संकुचित होते-होते वे प्रदेश ऐसे छोटे से छोटे जीव के शरीर में समा जाते हैं जो कि मनुष्य के दृष्टिपथ में भी नहीं आता। ऐसा होता है आत्म प्रदेशों का विस्तार एवं संकोच, लेकिन आत्म प्रदेशों का यह विस्तार एवं संकोच किन रूपों में दिखालाई पड़ता है? मनुष्य आत्मा की एकरूपता का कैसे अनुभव ले सकता है?

कर्मों के अनुसार शरीर की प्राप्ति तथा शरीर के अनुसार आत्मा की प्राप्ति:

आत्मा का मूल स्वरूप वही होता है जो सिद्धों का अनन्त विस्तारवाला स्वरूप होता है। वही स्वरूप कर्मों के आवरणों से संकुचित रूप में संसारी आत्मा का दिखाई देता है। इस आत्मा की दिव-शक्ति इन आवरणों द्वारा दबा दी गई है और दबते-दबते कर्मों के फलानुसार जिस प्रकार के आवरण का शरीर इस आत्मा को मिलता है, उसी शरीर की सीमा में सारे असंख्य आत्म-प्रदेश सीमित और संकुचित हो जाते हैं। कर्मों के अनुसार इस आत्मा को शरीर की प्राप्ति होती है तथा उस शरीर के अनुसार ही सारे आत्म प्रदेशों की प्राप्ति बन जाती है।

इस तथ्य को विभिन्न शरीरों के दृष्टान्त से समझ लीजिये। आज मनुष्य का शरीर जितना बड़ा होता है, उसमें ही सारे आत्म-प्रदेश समाये हुए हैं। इसके बाहर उस आत्मा के प्रदेशों का अस्तित्व नहीं होता है। मनुष्यों के शरीरों में भी समानता नहीं दिखाई देती है। कोई शरीर मोटा होता है तो कोई पतला। एक बच्चे का भी शरीर छोटा होता है तो किसी वृद्ध का शरीर बड़े आकार वाला भी हो सकता है, लेकिन आत्म-प्रदेश उस-उस शरीर की सीमा में ही संकुचित रहते हैं। जितना-जितना उस शरीर का विस्तार होता है, उस पूरे विस्तार में वे प्रदेश व्याप्त होते हैं। यह नहीं कि हाथ में हैं और पैर में नहीं या एक अवयव में है और दूसरे में नहीं। यही कारण है कि शरीर के किसी भाग में कुछ भी किसा जायगा तो उसकी संवेदना सारे शरीर के अनुभव में आयगी। शरीर के जर्-जर् में आत्म-प्रदेश व्याप्त होते हैं।

यही नहीं, एक हाथी के शरीर में जो और जितने आत्म-प्रदेश व्याप्त होते हैं, वे और उतने ही आत्म-प्रदेश एक चींटी के शरीर में भी समा जाते हैं। चींटी के शरीर में भी हाथी के तुल्य ही आत्म-प्रदेश होते हैं लेकिन वे कर्मों के जरिये एकदम संकुचित बन जाते हैं। कर्मों का संयोग होता है तब यह आत्मा दबने लगती है और दबते-दबते अत्यन्त संकुचित बन जाती है। आकाश के समान व्यापक आत्म-प्रदेश कर्म और शरीर के माध्यम से छोटे से छोटे दायरे में समा जाते हैं।

आत्मा की विशालता व समानता को समझने की आवश्यकता।

यदि इस रूप में आत्मा के स्वरूप को जान लें और उसकी विशालता एवं संकुचितता का अनुमान लगावें तो यह तथ्य स्पष्ट बनेगा कि यह आत्मा विशाल स्वरूपी है तथा अपने पुरुषार्थ से इसके संकुचित स्वरूप को विराटता में परिवर्तित किया जा सकता है। इस स्वरूप की अनुभूति से आत्मा को यह प्रतीति होगी कि मैं इतनी व्यापक एवं अधिक प्रकाश वाली हूँ कि सारे लोक को प्रकाशित कर सकती हूँ किन्तु मेरे स्वरूप पर कर्मों के आवरण पड़े हुए हैं जिन्होंने मेरे विराट् स्वरूप को संकुचित बना दिया है। इस प्रतीति के साथ ही उस आत्मा को निजत्व का सही बोध होगा, उसको अपनी अपूर्व शक्ति का ज्ञान होगा। यही ज्ञान उसकी कर्मठता को प्रेरित करेगा कि वह अपने निजत्व का और निज शक्ति का अपूर्व विस्तार करने के लिये कटिबद्ध हो जाय।

आत्म-स्वरूप के चिन्तन से एक तथ्य और स्पष्ट होगा कि स्वरूप की दृष्टि से संसार की सारी आत्माओं में एक दृष्टि से समानता रही हुई है। चाहे मनुष्य की आत्मा है अथवा हाथी या चींटी के शरीर की आत्मा है-उसके स्वरूप में समानता है और समानता का यही दृष्टिकोण जीवन में आत्मीयता की प्रेरणा देता है। सभी आत्माएं समान हैं और प्रत्येक को सबके साथ सुखकारी व्यवहार करना चाहिये-ऐसा विचार इस आत्मीयता के प्रभाव से बनता है। अहिंसा सिद्धान्त का मूलाधार इसी विचार पर आधारित रहता है।

आत्माएं स्वरूप की दृष्टि से सब समान हैं और सबका मूल स्वरूप तेजस्विता से परिपूर्ण होता है तथा विराट् होता है-जब यह भावना अन्तःकरण में व्याप्त होती है तो वह आत्मा चाहे जैसे शरीर में बैठी हुई हो, अपने छोटेपने से छटपटाने लगती है और अपनी विशालता को प्राप्त करने की अभिलाषिणी बन जाती है। बच्चा सोचता है कि मैं तो खूले में खेलने वाला हूँ और मुझे एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिया। तब वह रोता है, चिल्लाता है और खुले में निकलने की हठ पकड़ता है। वीतराग देवों के वचनों को इस संदर्भ में हृदय में उतारने की आवश्यकता है कि आत्म-प्रदेश शरीर की सीमाओं में बंधे हुए हैं किन्तु इस सीमा में रहते हुए भी आत्म-स्वरूप अपनी सम्पूर्ण विराटता को प्राप्त कर

सकता है। मनुष्य शरीर में यह आत्मा आज संकुचित है अपने प्रदेशों की दृष्टि से, किन्तु अपने ज्ञान एवं अपनी शक्ति की दृष्टि से इस पर कोई प्रतिबंध नहीं है। यह इनका विस्तार चाहे जितना कर सकती है- इसकी कोई सीमाएं नहीं हैं। ऐसी असीम शक्ति इस आत्मा में है।

आत्मा की असीम शक्ति के जागरण का संकल्प:

आत्मा की इस असीम शक्ति की अनुभूति लें और उसके जागरण का संकल्प करें तो कोई कठिन नहीं कि यह आत्मा छोटे से मानव शरीर में रहती हुई भी ज्ञान और शक्ति के प्रकटीकरण की दृष्टि से विराट् स्वरूपी बन जाय। आखिर इस मानव शरीर में ही तो आत्मा पूर्ण पुरुष के रूप में अरिहंत का पद प्राप्त करती है। केवलज्ञान से युक्त अरिहंत प्रभु परमात्मा ही होते हैं जो तीर्थंकर भी होते हैं। प्रस्तुत प्रार्थना में भगवान् श्रेयांसनाथ की प्रार्थना की गई है, यह स्तुति आत्मा के उस विराट् स्वरूप की स्तुति है- उसकी असीम शक्ति की स्तुति है। और यह स्तुति भी इसलिये है कि उसी असीम शक्ति के जागरण का संकल्प उनकी प्रार्थना करने वाला भी ग्रहण करे।

आत्म-शक्ति के जागरण का जो संकल्प लेना चाहते हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि हमारी आत्मा इतनी विशाल है और इतनी शक्ति की धारिणी है, फिर हम छोटे से दायरे में बन्द होकर क्यों बैठे हैं? मनुष्य जीवन को इतना संकुचित क्यों बना लिया है जो मोह एवं तृष्णा के छोटे-छोटे दायरों में बन्द होकर एकदम छोटा हो गया? खुले में खेलने वाले बालक को जैसे छोटी-सी कोठरी में बन्द कर देने पर छटपटाहट होती है, वैसी ही छटपटाहट ऐसी जागरुक आत्मा में भी होती है कि वह इन बन्द दायरों में से बाहर निकले और अपनी विराट्ता से साक्षात्कार करे। ऐसी भावना तभी उत्पन्न हो सकती है तथा तभी संकल्प ग्रहण किया जा सकता है, जब इस पर गहराई से चिन्तन किया जाय। चिन्तन की गंभीर घड़ियों में ही यह जाना जा सकता है कि आत्मा क्या है, उसका स्वरूप कैसा है तथा उसकी शक्ति कितनी है? महाराज कहते हैं और उसको आप सुन लेते हैं लेकिन उस पर चिन्तन किये बिना इस कथन के मर्म को आप समझ नहीं पायेंगे। अधिकतर तो आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में सारी बातें जानकर भी उनकी अनुभूति लेने की चेष्टा नहीं की जाती है क्योंकि यह आत्मा गाढ़ी नींद में सोई हुई है-उसकी निजत्व का भान नहीं है। इसी कारण छोटे से शरीर रूपी जेलखाने में रहती हुई भी वह अपने को आनन्दित मानती है तथा अपने अधःपतन को देख नहीं पाती है।

आत्मा की सुषुप्ति इसकी स्वरूप-संकुचितता का मुख्य कारण है। जब जागरण का ही अभाव है तो नींद में सभी बातों की यथावत् जानकारी कैसे हो सकती है? नींद से जागना पड़ेगा, सारी स्थिति को समझनी होगी और फिर आत्म-विकास का मार्ग अपनाया होगा। आत्मा की सुषुप्ति हटेगी, जागृति आएगी तभी आत्म-शक्ति का विकास संभव हो सकेगा। इस कारण सबसे पहले आत्मा की असीम शक्ति के जागरण का संकल्प लेने की आवश्यकता है।

जागरण की पूर्व भूमिका ज्ञान तथा पश्चात् भूमिका कर्मण्यता की:

आत्म-शक्ति के जागरण के लिये पूर्व भूमिका के रूप में सम्यक्ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान के बिना जागरण कैसा? ज्ञान होता है उसे ही विधि कहते हैं तथा विधिपूर्वक जो जागरण होता है उसी के फलस्वरूप कर्मण्यता पैदा होती है, चारित्र्य का बल मिलता है। इसीलिये कहा गया है कि जागरण की पश्चात् भूमिका कर्मण्यता की होती है कि कर्मण्यतापूर्वक आत्म-पुरुषार्थ किया जाय। जब यही पुरुषार्थ सफल हो जाता है तो आत्मशक्तियां प्रकट होकर आत्मा को तेजस्वी बना देती हैं।

वर्तमान शिक्षा का तौर तरीका ऐसा है कि विद्यार्थी को दुनिया का ज्ञान तो करा दिया जाता है, लेकिन आत्मा सम्बन्धी सही ज्ञान नहीं कराया जाता है। छोटे से विद्यार्थी को भी पूछें तो वह बता देगा कि अमेरिका में इस समय क्या हो रहा है, भारत के विदेशमंत्री इस समय कहां गये हैं या देश में चुनाव के प्रसंग से क्या हो रहा है? फिर भी उसको घर की जानकारी कम होगी कि रसोई में घी, शक्कर या दूधसरा सामान कहां पड़ा है? जब घर की जानकारी पूरी नहीं है और अमेरिका की जानकारी कर ली तो वह जानकारी पूर्ण कैसे कहलायगी? उसके बाद उनको स्वास्थ्य सम्बन्धी

भी पूरी जानकारी नहीं है या स्वस्थ आदतें नहीं हैं। घर में दूध का संयोग होगा, लेकिन होटलों में चाय पीते फिरेंगे अथवा तरह-तरह के कुव्यसनों को पकड़ लेंगे। इसके बाद आत्मतत्व की जानकारी का तो करीब-करीब अभाव सा दिखाई देगा। उनको इस की जानकारी ही नहीं है कि जीवन की शक्ति का स्रोत कहां है और वह कौनसा तत्व है? कैसी विचित्र और विपरीत स्थिति आज के मनुष्य जीवन की बन रही है कि जो स्वयं की आत्मा को नहीं जानता, शरीर को नहीं जानता और घर को नहीं जानता, वह यह जानता है कि देश-विदेश में कहां क्या हो रहा है? बाहर की बातों में उड़ रहे हैं लेकिन अपनी तरफ जरा भी खयाल नहीं है।

मनुष्य हैं और अमूल्य मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है तो सबसे पहले जीवन के स्वरूप का और जीवन के विकास का खयाल आना चाहिये। जब तक स्वयं के जीवन सम्बन्धी ज्ञान का ही अभाव रहेगा तो दूसरों के जीवन के प्रति सहानुभूति कैसे होगी और कैसे आत्मीयता की भावना उत्पन्न होगी? इस सारे सही ज्ञान के अभाव में आत्म-जागरण का और कर्मण्यता का प्रश्न ही कहां उठता है? ज्ञान और कर्मण्यता नहीं तो आत्म-शक्तियों का प्रकटीकरण कैसे हो सकता है?

विपरीत दिशा में गति है तो जागरण की समस्या कैसे हल हो ?

आधुनिक जीवन की गति ही जब विपरीत दिशा में हो रही है तो यह कठिन प्रश्न है कि आत्म-शक्ति के जागरण की समस्या कैसे हल हो ? इस विपरीत गति के कारण अनेकानेक विकार इस जीवन में घुसते चले जा रहे हैं और वे जीवन को अधिक विषम बना रहे हैं। प्रवीण एक धनी सेठ का इकलौता पुत्र था। वह कालेज में पढ़ता था और वहां के सम्पर्क से कई बातें सीखता था। बुरी बातों की तरफ ही ध्यान पहले जाता और प्रवीण भी कुछ जुआरियों की संगत में पड़कर जुआ खेलने लगा। उसके साथ शराब और अन्य दुर्व्यसनों की लत भी उसको पड़ गई। घर में पैसों की छूट थी सो प्रवीण की आदतें बिगड़ती रही। सेठ को इस सारी स्थिति का कोई ज्ञान नहीं था। वह तो सोचता था कि प्रवीण की शादी करदूं तो सूना घर बच्चों से भर जायगा। धीरे-धीरे सेठ को प्रवीण की बुरी आदतों का पता चलने लगा, लेकिन मोह वश वह अनदेखी करता गया। एक बार कुटेव के चक्कर में प्रवीण को पुलिस ने गिरफ्तार करके जेलखाने में बंद कर दिया। वहां उसके साथ कड़ा बर्ताव हुआ। सेठ मिलने गया तो वह फफक-फफक कर रोने लगा और जेलखाने से तुरन्त छुड़वाने की कहने लगा। तब सेठ ने उसको समझाया और जीवन को बदल देने की बात कही। उसने तब दृढ़ प्रतिज्ञा की कि वह अब कभी बुरे रास्ते पर नहीं चलेगा। तब सेठ ने उसको जेल से छुड़ाने का बन्दोबस्त किया।

इस छोटे से रूपक की प्रेरणा यही है कि अपने ही जीवन के संबंध में सही ज्ञान नहीं होता, अच्छे संस्कार नहीं मिलते तो जीवन की गति विपरीत दिशा की ओर चली जाती है। फिर विपरीत तत्वों के धक्के भी लगते हैं और कोई तो धक्कों से सुधर जाता है लेकिन कई धक्के खाकर भी नहीं सुधर पाते हैं। यदि जीवन में सामान्य सुधार भी नहीं आवे तो आत्म-जागरण का उस जीवन में श्री गणेश ही कैसे हो ?

जीवन की ऐसी विपरीत दिशा अधिकतर बाल्यकाल में अच्छे संस्कारों के अभाव में तथा बुरी संगति के कारण पकड़ ली जाती है। इसमें माता-पिता का दोष भी कम नहीं होता है और माताओं की तो विशेष रूप से जिम्मेदारी गिनी जायगी। माताएं ही प्रारंभ से सन्तान का लालन-पालन करती हैं, इसलिये यह उनके देखने का पहला कर्तव्य होता है कि शरीर के लालन-पालन के साथ जीवन का लालन-पालन हो रहा है या नहीं? इस के लिये माताओं को भी जीवन-निर्माण की कला सीखनी होगी और उनमें अपने कर्तव्य को पूरा करने का साहस पैदा करना होगा। यदि सन्तान दुर्व्यसनों की तरफ जाने लगे तो उसे कठोरता के साथ पीछे खींचनी होगी। बचपन में तो हल्की सी कठोरता से काम बन सकता है लेकिन बाद में तो वह बिगड़ी हुई सन्तान हाथ में ही नहीं आती है। माताओं में इस प्रकार की सजगता पनपनी चाहिये। अभी आपके सामने मामीजी कहलाने वाली धूरीबाई ने अपनी बात रखी। ये दोनों पति-पत्नी

बिगड़े हुए जीवन वाले लोगों को अच्छे संस्कार देने में जुटे हुए हैं तो क्या अन्य बहिनें इनसे जीवन निर्माण की सुन्दर प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकती हैं? यदि माताएं जीवन निर्माण की कला सीखें और उसे अपनी सन्तान पर क्रियान्वित कर लें तो जीवन की विपरीत गति समाप्त हो सकती है तथा आत्म-शक्ति के जागरण की समस्या का भी सुन्दर समाधान सामने आ सकता है।

जीवन निर्माण की कला से ही आध्यात्मिक कक्षाओं में उन्नति:

जीवन निर्माण की कला में यदि पारंगतता आ जाती है तो स्व-पर के जीवन को एक नया मोड़ मिल सकता है और स्व-पर की कल्याण भावना से जो कार्य करता है, वह निरन्तर आध्यात्मिक कक्षाओं में उन्नति करता हुआ चला जाता है। यह आध्यात्मिक कक्षाओं की उन्नति ही एक दिन सर्वोच्च परीक्षा का प्रमाण पत्र दिलाती है। भगवान् ने इस आत्म-साधना के क्षेत्र में जाने वाले सन्त और सती वर्ग के लिये छः ठान बनाये हैं जिनका अर्थ यह है कि हाथ की अंगुलियों की तरह वैराग्यमय परिणामों की भिन्न-भिन्न आत्माओं में भिन्नता होती है। किसी में संख्यात गुणा अधिक तो किसी में असंख्यात गुणा अधिक ये परिणाम होते हैं। एक स्कूल में हजारों छात्र पढ़ते हैं लेकिन सभी को बराबर अंक नहीं मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक जीवन की कक्षाओं में भी सभी तरह के छात्र रहते हैं-परीक्षा की दृष्टि से भिन्नता हो सकती है लेकिन मूल स्थिति एक सी रहती है। सभी की स्थिति विपरीत नहीं होती, एकाध ऐसा हो सकता है। आज ही नहीं, तीर्थकरों के युग में भी ऐसा हुआ था। भगवान् महावीर स्वामी समवशरण में बिराजे हुए थे और वहीं एक पटेल साधु सबके सामने ओघा, पातरा पटक कर चला गया। इस घटना को देखकर यदि यह कहें कि भगवान् महावीर का अनुशासन ठीक नहीं था तो क्या यह उचित होगा?

जीवन निर्माण की कला जहां सामूहिक रूप से सिखाई जा रही हो, वहां हजारों में से एक दुष्प्रवृत्ति वाला भी निकल सकता है। उससे सारी संस्था खराब नहीं कहला सकती है। परीक्षा में सभी विद्यार्थी पास नहीं होते हैं। 50 या 60 प्रतिशत परिणाम रहे-उसको भी बहुत अच्छा कहा जाता है। गुण ग्रहण करने वाले अधिक होते हैं तो कोई दोष दर्शन करने वाला भी मिल जाता है। जो आध्यात्मिक कक्षाओं में पढ़ता हुआ उत्तीर्ण होकर उन्नति कर लेता है, वह ऊपर की कक्षा में पहुंच जाता है और जो पिछड़ जाता है, वह अपने जीवन को तब भी सम्हाल लेता है तो ठीक, वरना वह आध्यात्मिक पथ से पतित हो जाता है। लेकिन जिन्होंने आत्म-स्वरूप को गहराई से समझा है, वे अपने आध्यात्मिक जीवन को नष्ट नहीं कर सकते हैं। वे छूटे हुए छोर को पकड़कर फिर से आगे बढ़ जाते हैं।

आध्यात्मिक जीवन का विकास और आत्म-शक्ति का जागरण:

जिन भाई-बहिनों ने यह सोच लिया है कि इस मानव जीवन का धार्मिक पहलू अत्यधिक महत्वपूर्ण है, उन्होंने अपना सारा ध्यान जीवन निर्माण की तरफ लगा लिया है। इस पिरोदिया-दम्पति को आप देख रहे हैं कि यह किस लगन से पिछड़ी हुई मानवता की सेवा कर रहा है? गृहस्थ जीवन के कर्तव्य भी निभावे लेकिन उसके साथ-साथ जीवन में सद्गुण लाने का तथा अच्छे परिवार के निर्माण का प्रयास भी करें। अपने जीवन को संवार कर चलें और दूसरों के जीवन विकास में सहायक बनें।

मनुष्य जीवन मिला है तो इसका पूर्ण सदुपयोग करें। कर्मों को तोड़ते हुए आध्यात्मिक जीवन का विकास करें तथा आत्म-शक्ति को जगावें। यह आत्मा अपने पर लगे विकृत आवरणों को हटावे, तभी दबी हुई शक्तियां जाग्रत होकर प्रकट हो सकती हैं तथा सक्रिय बन सकती हैं। आत्म-विकास करने का यह सुलभ मार्ग है। नैतिकता के धरातल पर जब आध्यात्मिकता पनपती है, तभी जागरूक जीवन की गतिशीलता प्रारंभ होती है। पहले स्वयं जगकर दूसरों को जगाने की शक्ति उभरती है। आत्म-शक्ति का जागरण वह सबल माध्यम होता है जिसकी सहायता से स्वयं का जीवन तो आध्यात्मिक समुन्नति करता ही है किन्तु वह अन्य जीवनों को भी आध्यात्मिक पथ के पथिक बनाने की दृष्टि से पूर्णतः प्रभावित करता है।

7. बाहर और भीतर की एकरूपता

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी आत्मरामी नामी रे ।

अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

एक वक्त जब आत्मा किसी उलझन में फंस जाती है तो उस उलझन से उसका विकास होना बड़ा कठिन होता है। इस कारण आत्मा को पुनः श्रेय मार्ग पर गति कराने के लिये पदनुरूप यत्न करना परमावश्यक होता है। किसी भी शिला के नीचे किसी भी कारण से किसी का हाथ आ जाता है तो उस शिला के नीचे से अपने हाथ को वापिस बाहर निकालने के लिये काफी श्रम, साहस और बुद्धि से कार्य करना होता है, जो सहज नहीं होता है। सारा बल लगाकर झटके से हाथ को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है तो अंगुलियों के टूट जाने का खतरा रहता है और अन्य विधि भी अपनाई जाती है, तब भी पूरी सावधानी जरूरी होती है। उस समय श्रम, साहस और बुद्धि की परीक्षा होती है कि हाथ को किसी भी तरह की हानि भी नहीं पहुंचे तथा हाथ सहज रूप में शिला के नीचे से निकल जावे। उस समय भी भीतर और बाहर की एकरूपता की जरूरत होती है कि मनोयोग भी उस तरफ सतर्कता पूर्वक लगा हुआ हो तो शरीर के संचालन में भी पूरी सावधानी हो।

यह तो एक छोटी-सी बात है। जहां अपनी आत्मा को किसी उलझन में से निकालने की समस्या सामने हो तब अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने अथक श्रम, अटूट साहस तथा कर्मठ बुद्धि की आवश्यकता होगी। उसके लिये तो बाहर और भीतर की घनिष्ठ एकरूपता चाहिए। ऐसी एकरूपता कि मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग एक जूट बन जावें।

कर्मों की शिला के नीचे आत्मा तथा छुटकारे के उपाय:

इस आत्मा को बहुत समय से शिला के तुल्य कर्मों के भार के नीचे आ जाने का प्रसंग आया हुआ है। इन कर्मों के भार से छुटकारा पाना अथवा दूसरे शब्दों में कर्मों की शिलाओं के नीचे से आत्मा की दबी हुई शक्तियों को बाहर निकालना इतना सहज और सरल कार्य नहीं होता है। इसमें कठिनता अवश्य है, लेकिन यह कोई असंभव कार्य नहीं है।

जिस किसी आत्मा ने सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में अपने मूल स्वरूप को पहिचाना है, अपनी शक्तियों की तरफ ध्यान दिया है तथा उन्हें प्रकट करने का संकल्प बनाया है, वह आत्मा बाहर और भीतर की पूर्ण एकरूपता के साथ उस परम पुरुषार्थ के लिये तत्पर बनी है और तब उस आत्मा का सत्पुरुषार्थ उस दिशा में निरन्तर चला है तो वह अवश्य सफल भी हुआ है। इस सफलता की आधारशिला सदा ही बाहर और भीतर की एक रूपता ही रही है। वही पुरुषार्थ सफल होता आया है तथा सफल होता है जो बाहर और भीतर की एकरूपता पर आधारित रहता है। कर्मों की शिलाओं के नीचे से आत्मा के छुटकारे के लिये ऐसी एकरूपता अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

चतुर्गति संसार में भ्रमण करते हुए एक ही स्थान ऐसा है कि जिस स्थान पर इस सत्पुरुषार्थ का विवेक जागृत हो सकता है और वह स्थान और समय होता है मनुष्य जीवन का। मनुष्य जीवन में जब सत्संग का आश्रय लिया जाता है तो उस विवेक के जागृत एवं कार्यरत होने में सन्देह नहीं रह जाता है। यही जीवन काल होता है जब भूत

और भविष्य की दोनों कल्पनाओं को सामने रखकर वर्तमान को भव्य बनाने का सुन्दरतम साध्य साधा जा सकता है एवं जीवन को समग्र रूप से पहिचाना जा सकता है। यदि मनुष्य भूतकाल के आधार पर वर्तमान का चिन्तन करे कि किस प्रकार के कार्य, व्यवहार एवं स्वभाव के कारण यह आत्मा कर्मों के भार के नीचे दबी और अब आत्मा अपने स्वभाव, व्यवहार तथा कार्य में किस प्रकार का परिवर्तन लावे जिससे कि वह कर्म भार को अपने ऊपर से हटा सके और अपनी शक्तियों का सम्यक् विकास कर सके? वर्तमान के परिवर्तन के आधार पर ही श्रेष्ठ भविष्य का भी निर्माण किया जा सकता है। इस रूप में भविष्य का आदर्श वर्तमान में सामने रहता है तो परिवर्तन की प्रक्रिया प्रेरणाप्रद बन जाती है। भविष्य का आदर्श होना चाहिये-सिद्ध स्वरूप का आदर्श कि आत्मा को अपने सारे सत्पुरुषार्थ के फलस्वरूप इस लक्ष्य तक पहुंचना है।

लक्ष्य जब सामने रहता है तो उसके अनुरूप वर्तमान जीवन को ढालने के प्रति एकाग्रता का निर्माण होता है। यह जो एकाग्रता है, वही सम्पूर्ण योगों की एकरूपता पर बल देती है और जितनी घनिष्ठ यह एकरूपता बनती है, उतनी ही लक्ष्य के प्रति केन्द्रित गति बन जाती है। फिर यह प्रमुख ध्यान रहता है कि भविष्य के आदर्श एवं लक्ष्य के अनुसार इस वर्तमान जीवन को श्रेयस्कर बनाना है तथा श्रेयमार्ग पर चलना है। ऐसी निष्ठा जब बन जाती है तो आत्मा को कर्मों की शिला के नीचे से छुटकारा दिलाने में फिर अधिक कठिनाई नहीं रहती है।

लक्ष्य की एकाग्रता से बाहर और भीतर की एकरूपता:

आपने धनुर्धर अर्जुन के लक्ष्य-वेध की कहानी सुनी होगी कि जब द्रोणाचार्य ने घूमती हुई खिलौने की चिड़िया की आंख में तीर चलाने का और अपनी कुशलता का परिचय देने का सभी शिष्यों को निर्देश दिया तो सभी ने कहा कि उन्हें सभी बैठे हुए लोग, घूमती हुई चिड़िया और सारा दृश्य दिखाई दे रहा है। केवल अर्जुन ने ही कहा कि उसे चिड़िया की आंख के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है और इस एकाग्रता के कारण उसी का निशाना ठीक लगा। जब सम्पूर्ण एकाग्रता से कोई लक्ष्य की तरफ देखता है तो उसके मन, वचन, काया के सम्पूर्ण योग व्यापार की एकरूपता बन जाती है। ऐसी बाहर और भीतर की सम्पूर्ण एकरूपता के आधार पर ही सफल लक्ष्य-वेध हो सकता है। केन्द्रित लक्ष्य के प्रति ही ऐसी एकरूपता सधती है।

ऐसी सुदृढ़ एकाग्रता एवं एकरूपता की मनः स्थिति में लक्ष्य मार्ग पर चलते हुए चाहे कैसी और कितनी ही बाधाएं आवें, उनसे सफल संघर्ष करने का साहस सहज ही में जागृत हो जाता है। वह व्यक्ति उन बाधाओं को गंभीरतापूर्वक दूर करने का यत्न करता है। कहा है-श्रेयांसि बहुविघ्नानि अर्थात् कल्याण कार्य में अनेक बाधाएं आती ही हैं। लेकिन श्रेय कार्यों में संलग्न पुरुष उन बाधाओं तथा विघ्न के बीच में भी अविचलित गति से चलते रहते हैं क्योंकि इस दृढ़ता में उनकी बाहर और भीतर की एकरूपता पग-पग पर सहायता करती है।

अपने योग व्यापार को साध लेने वाले श्रेष्ठ पुरुष विघ्नों से कठिन संघर्ष करके भी अपने अभीष्ट स्थान तक पहुंचने का सफल प्रयत्न करते हैं। विघ्नों की आंधियों और बाधाओं के तूफानों से वे कभी भी अपने श्रेय मार्ग का परित्याग नहीं करते हैं, बल्कि दृढ़तापूर्वक अपने मार्ग पर चलते हैं। गति में कभी तीव्रता आवे या कभी मंदता आवे-यह दूसरी बात है। लेकिन उनकी गति इसी मार्ग पर रहती है। पवित्र मार्ग को वे अपने चरण चिन्हों से हटने नहीं देते हैं। ऐसे ही सत्पुरुषार्थी पुरुष अपने निबिड़ कर्म बन्धनों को तोड़ने में सफल होते हैं एवं अपनी बाहर और भीतर की एकरूपता का आदर्श परिचय देते हैं।

ऐसी एकरूपता का प्रारंभ कहाँ से किया जाए ?

लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसी आदर्श एकरूपता को साधने के प्रयत्न का प्रारंभ कहाँ से किया जाय ?

किसी का कथन होता है कि इसका प्रारंभ भीतर से किया जाय, क्योंकि भीतर ही सब कुछ है, आत्मा का शुद्ध अनुभव ही महत्वपूर्ण होता है। आत्मा की सारी पवित्र शक्तियां भी आन्तरिकता में भरी हुई होती हैं, इसलिये यह कार्य

भीतर से ही हो सकता है, बाहर से कुछ भी नहीं हो सकता। जबकि दूसरों का कहना है कि इस कार्य का प्रारंभ भीतर से नहीं, बाहर से होगा, बाहर से ही भीतर में जाया जा सकता है। यदि बाहर का व्यवहार व्यवस्थित नहीं है तो भीतर में प्रवेश नहीं हो सकेगा।

दोनों कथन दो शिखाओं पर हैं। दोनों दो अलग-अलग बातों को लेकर चल रहे हैं, लेकिन दोनों का एक दूसरे के साथ कोई तालमेल नहीं है। जब तक दोनों का समन्वय नहीं सधता है तो दोनों को ही विफलता का मुंह देखना पड़ता है। जिस आत्मा से संयुक्त शरीर रूपी जीवन को यह दुनिया देख रही है, उस जीवन का बाहरी हिस्सा और भीतरी हिस्सा आपस में बिल्कुल कटे हुए नहीं है। उनका सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो-ऐसा नहीं है। ये दोनों हिस्से एक दूसरे से जुड़ हुए होते हैं, बल्कि दोनों एक दूसरे के अभिन्न अंग होते हैं। बाहर भीतर परस्पर भिन्न नहीं होते हैं। तलवार का दृष्टान्त ही ले लें। उस का एक हिस्सा तीखा होता है और दूसरा हिस्सा(धार) भोटा होता है लेकिन तीखा हिस्सा भी तभी काम कर सकेगा जबकि दूसरे हिस्से का पीठ बल उसको मिले। यदि तलवार का तीक्ष्ण भाग ही कार्य करे और उसको दूसरे भाग का व बाहरी बल नहीं मिले तो क्या वह तलवार काम में आ सकेगी?

एक दृष्टि से इस जीवन को भी इसी रूप में देखने की आवश्यकता है। ऊपर से आंख, कान, नाक आदि की सारी की सारी संरचना दीख रही हैं एवं उसकी प्रवृत्तियां भी ज्ञात हो रही है, लेकिन उनका मूल संचालन कहां से होता है और कहां से होना चाहिये-इसको जाने बिना जीवन का सदुपयोग नहीं किया जा सकता है। आज जीवन किसके अधीन चल रहा है और वास्तव में उसको किसके अधीन चलना चाहिये-इसका विवेक आवश्यक है। व्यक्ति जब प्रमाद के अधीन होता है तो उसके जीवन में आत्म शासन का अभाव दिखाई देने लगता है। नैत्र उसके अधीन नहीं देखते, कान सुनने में उसकी आज्ञा नहीं मानते और जिह्वा रसलोलुपता में मनमानी करने लगती है। प्रमत्त अवस्था में अनुशासन आत्मा का नहीं रहता, बल्कि इन्द्रियां आत्मा को अपने शासन में ले लेती हैं। शरीर का प्रत्येक भाग या उसकी प्रत्येक इन्द्रिय आत्म प्रदेशों से संयुक्त होती है, लेकिन आत्म शक्ति के ऊपर ये इन्द्रियां तथा इनकी लोलुपता हावी हो जाती हैं।

एकान्तवाद से नहीं समन्वय से समस्या का समाधान:

दार्शनिक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न विचार भिन्न-भिन्न तरीकों से आते हैं। किन्हीं का कहना है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं है, बल्कि केवल हृदय स्थल में ही निवास करती है। दूसरे कहते हैं कि नहीं, उसका निवास केवल मस्तिष्क में है। ये जितने भी मत हैं, बुद्धि कल्पित हैं-पुस्तकों के सहारे पर बने हुए हैं। जिनका सोचना सिर्फ बुद्धि तक ही सीमित रह जाता है, वे अन्दर की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। लेकिन जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का भी कुशल प्रयोग करते हैं तथा अनुभव के क्षेत्र में भी उतरते हैं, वे आत्म शक्ति की वास्तविक अनुभूति लेते हैं। उन्हें तथ्य रूप अनुभूति से ही सत्य का साक्षात्कार होता है। उनका व्यवहार भी तब उस सत्य से जुड़ जाता है और सत्य से जुड़कर वह समन्वय की कला सीख लेता है।

कोई भी एक मत एकान्त रूप से सत्य नहीं होता है क्योंकि एकान्त वादिता हठ के आधार पर चलती है तथा हठ से मिथ्या का ही पोषण होता है। इसलिये किसी भी ओर खासतौर से वैचारिक अथवा दार्शनिक समस्या का समाधान एकान्तवाद से नहीं, समन्वय से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के बीच में रहे हुए सत्मांशों को परखना-पहचानना तथा उनको समन्वय के सूत्र में पिरोकर जीवन के विचार व व्यवहार में उतारना-यह सद्विवेकी पुरुष ही कर सकता है। इसमें समन्वय का स्वरूप समझौतावादी नहीं होना चाहिये क्योंकि समझौते का अर्थ सदा ही पीछे पग धरना होता है। यह समन्वय पूर्णतः सैद्धान्तिक तथा सत्यानुगामी होना चाहिये। ऐसा समन्वय ही सच्ची अनुभूति का वाहक होता है।

जिस पुरुष का कहना है कि भीतर ही सब कुछ है और बाहर से कुछ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है, वह पुरुष बाहर से अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं लाता है। वह अपने बाहर के व्यवहार को यथावत् रखता है। उसके पैर गलत रास्ते पर जावें तो जावें, उसके हाथ हिंसा के लिये उतारू रहते हैं तो रहें। उसका तर्क यही होता है कि बाहर से कटु शब्द बोल रहा है तो उससे क्या फर्क पड़ता है-भीतर का मन ठीक रहना चाहिये। लेकिन ऐसे कहने और करने को क्या उचित कहा जा सकता है? यदि भीतर ठीक है तो भला वह बुरे काम में प्रवृत्ति ही कैसे करेगा? यदि भीतर का जीवन पवित्र है तो पैर कभी गलत रास्ते पर नहीं जायेंगे, हाथ कभी हिंसा में नहीं लगेंगे और मुंह कभी कटु शब्दों का उच्चारण नहीं करेगा। विचारों में शुद्धता होगी तो व्यवहार कभी भी अपवित्र नहीं होगा- यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। इसका कारण है कि अन्दर का प्रवाह ही बाहर प्रकट होता है। अन्दर कुछ और हो और बाहर कुछ और दिखाई दे-ऐसी वस्तुस्थिति नहीं होती है। यह वास्तविकता भी नहीं है। यदि यह भेद होता भी है तो वह विषमता है, धोखा-धड़ी है और एकान्तवाद की बात है। बाहर और अन्दर की स्थितियों की एकरूपता ही वास्तविक होती है अतः उनका समन्वय ही श्रेयस्कर है।

भीतर बाहर का सम्बन्ध अनुभूति का विषय, तर्क का नहीं:

एक व्यक्ति फिल्टर किया हुआ पानी पीना चाहता है और ऊपर के टैंक से ही वह पानी लेना चाहता है तो क्या वह सीधा वहां से पानी ले सकेगा? वह पानी नल के जरिये ही उसको मिल सकेगा। नल छोटा होता है लेकिन वह टैंक से जुड़ा हुआ होता है और उससे टैंक का ही पानी मिलता है। नल में आने पर भी वह पानी शुद्ध ही रहेगा, क्योंकि टैंक और नल के पानी में भिन्नता नहीं रहती है। नल एक तरह से टैंक का ही अंग होता है इसलिये शुद्ध या अशुद्ध जैसा पानी टैंक में होगा, वैसा ही पानी नल से आ जायगा। जैसा टैंक का सम्बन्ध है, वैसा ही इस हृदय का सम्बन्ध है-इस शरीर का सम्बन्ध है। इस शरीर के सभी अवयवों में आत्मा व्याप्त है। यह नहीं है कि वह किसी एक अवयव में ही रही हुई हो। जिनका यह कथन है कि आत्मा एक ही स्थान पर है और उस स्थान को ही पकड़ना है-यह गलत है और अनुभूति से परे हैं।

सच बात को यह है कि भीतर बाहर का सम्बन्ध मुख्यतः अनुभूति का विषय होता है, तर्क का नहीं। अनुभूति और तर्क में फर्क होता है। तर्क सही भी हो सकता है और गलत भी। तर्क से पीछे भी हट सकता है और आगे भी बढ़ सकता है। लेकिन अनुभूति सच्चे अनुभव के साथ भीतर की शक्ति को लिये हुए होती है इसलिये गलत नहीं होती और अनुभव यह बताता है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में समस्त अवयवों में यथास्थान व्याप्त होती है अंगुली के ऊपरी हिस्से में भी आत्म प्रदेश रहे हुए हैं, इसीलिये अंगुली अगर आग से छू जायगी तो उनकी वेदना मात्र अंगुली को ही नहीं, सारे शरीर को होगी। यह नहीं होता है कि वेदना अंगुली पर ही हो और मस्तिष्क में शान्ति बनी रहे। नैत्र सर्प को देखते हैं तो क्या भय नैत्रों में ही फैलता है और कंपकंपी वही पैदा होती है? सर्प को देखते ही सारे शरीर में कंपकंपी छूटती है और सारा शरीर वहां से भागता है। यदि आत्म प्रदेश अमुक अवयव में ही रहते तो सारा शरीर प्रभावित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव यह है कि शरीर के जितने अवयव व अंगोपांग हैं, उन सबमें आत्म प्रदेशों का निवास होता है। यह बात और है कि आत्मा अपना संचालन एक केन्द्र से करती है या अलग-अलग स्थानों से करती है। लेकिन संचालन की सूचना सारे शरीर को मिलती है और सबकुछ उसी के सहारे होता है। यह संचालनकर्ता शरीर नहीं, भीतर का चैतन्य होता है। वही चैतन्य मन को चलाता है और सारे शरीर को चलाता है।

भीतर और बाहर का सम्बन्ध ऐसा होता है कि अंधेरी रात में भी शरीर सावधानी से चलता है और किसी तरह की दुर्घटना नहीं घटती है। यह विवेक की जो शक्ति होती है, वह भीतर की शक्ति होती है और भीतर जो कुछ होता है, वही बाहर के व्यवहार में प्रकट होता है। यह आत्मा यदि भीतर में पवित्र है तो वही पवित्रता बाहर प्रकट होगी, जैसे कि टैंक का ही पानी नल के जरिये से बाहर आता है। ये आंख, नाक, कान, मुंह आदि सभी नल के मुंह हैं और इनका

जो व्यवहार दिखाई देता है, वह भीतर के विचार के अनुसार होता है। हाथ यदि सद्व्यवहार कर रहे हैं तो समझना होगा कि भीतर का विचार उस सद्व्यवहार का प्रेरक है। भीतर के ही चिन्तन को बाहर का व्यवहार प्रकट करता है। इसी प्रकार बाहर के व्यवहार से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके भीतर में कैसा विचार होगा? यदि इन दोनों में समन्वय नहीं होगा तो दोनों तरफ गड़बड़ी हो जायगी। इसलिये प्रारंभ यदि बाहर से करें तो वह भीतर पहुंचेगा ही। बाहर के सद्व्यवहार से भी भीतर में शुद्धि का संचार हो सकता है तो अन्दर से प्रारंभ करेंगे तब भी वह आन्तरिकता बाहर के व्यवहार में संशोधन लायगी ही। बाहर से भीतर अथवा भीतर से बाहर एक ही बात है और समन्वयात्मक तथ्य है। इस तथ्य का स्पष्ट ज्ञान केवल अनुभूति के माध्यम से ही किया जा सकता है।

बाहर और भीतर की एकरूपता का अभिप्राय है कर्ममुक्ति:

बाहर और भीतर की एकरूपता-यह जीवन की विधि को भलीभांति इस अभिप्राय से समझनी है कि आत्मा को आठों कर्मों की शिला के नीचे से बाहर निकाल सकने का सूत्र हाथ लग सके इसका सहज और सुगम सूत्र यह है कि वह सबसे पहले शरीर के सारे अवयवों में ऐसी शक्ति और क्षमता पैदा करे कि वे नये सिरे से होने वाले गाढ़े कर्म बंधन को रोक सकें। हाथ बुरे कामों से हटकर अच्छे कामों में लगे। ये नैत्र बुरे दृश्यों से दूर रहकर सदा सदाशयता के दृश्य देखें और अन्य इन्द्रियां भी बाहर भटकना छोड़ कर आत्मा की आन्तरिकता में रमण करने का अभ्यास बनावें।

गृहस्थ अवस्था का भी एक जीवन है और साधु अवस्था का भी एक जीवन है। दोनों जीवनो के लिये इस प्रार्थना में संकेत हैं कि-

सयल संसारी इन्द्रिय रामी

मुनिगण आतम रामी रे।

मुख्यपणै जे आतम रामी

ते केवल निष्कामी रे ॥

यहां सयल शब्द से समस्त संसारी लोगों का उल्लेख है। सयल से तात्पर्य यह है कि जिनको अपने हित और अहित का विवेक नहीं है और जो सांसारिकता में चलते हुए एक दृष्टि से बेहोशी की हालत में चल रहे हैं। बेहोशी का मतलब समझ लें। जीवन निर्वाह करने के दो तरीके होते हैं। एक तो यह कि अपनी आय के अनुसार खर्च किया जाय और दूसरा यह कि खर्चों का कोई विचार नहीं रख कर कर्ज करते जावें। पहला तरीका होश का तरीका है तो दूसरा बेहोशी का तरीका। इसे ही कर्म बंधन के संदर्भ में देखें। आत्मा नये कर्मों के बंधन से रूके और कर्जा नहीं बढ़ावे- यह बाहर और भीतर की एकरूपता का और सद्विवेक का परिणाम होता है। जो सांसारिकता में रच-पच कर बेहोशी से चलते हैं, उन्हें इस बात का भान नहीं होता है कि वे किस प्रकार पग-पग पर नये कर्मों का बंधन करते हुए आत्मा को कर्मों की शिला के नीचे ज्यादा से ज्यादा दबाते रहते हैं। यह इसलिये होता है कि वे भीतर को समझते नहीं और बाहर को नियंत्रित नहीं कर पाते। इस बेहोशी को दूर करने का उपाय यह है कि भीतर को समझें तथा भीतर बाहर को एकरूप बनावें।

भीतर का श्रेष्ठ लक्ष्य बनावें और बाहर को भीतर से जोड़ें:

वर्तमान जीवन को टिकाने के लिये बाहर की दृष्टि से भी आवश्यक सामग्री की अपेक्षा रहती है। उसके लिये इन्सान हाथ पैर हिलाता है-काम करता है। लेकिन इसके साथ-साथ यदि वह ऐसा व्यवहार बनावे कि शरीर को चलाने मात्र के लिये और इसी दृष्टि से परिवार के लिये जितना चाहिये उतना ही अर्जित करे और बाहर को भीतर से जोड़ कर रखे तो भीतर के श्रेष्ठ लक्ष्य की तरफ इस आत्मा की गति हो सकती है। ऐसा विवेकवान पुरुष ऐसे ही व्यवसाय को अपनायगा जिसमें अनीति और महा-आरंभ की स्थिति नहीं हो। महा-आरंभ वह है जिसमें भयंकर हिंसा होती हो-

पंचेन्द्रिय तक की घात हो। महा-आरंभ का महापाप होता है, इसलिये बाहर और भीतर को जोड़कर चलने वाला पुरुष महा आरंभ से बचकर चलता है क्योंकि सामान्यतया अल्पारंभ से बचा नहीं जा सकता है तथा अल्पारंभ के अल्प पाप का निवारण भी आसान होता है।

इस दृष्टि से जिस किसी धन्धे का एक गृहस्थ चयन करे, वह महाआरंभ वाला नहीं होना चाहिये-यह शास्त्रकारों का निर्देश है जहां भगवान् महावीर के व अन्य तीर्थकरों के श्रावक हुए हैं वे इस तरह का विवेक लेकर चलते थे। चाहे व्यवसाय की दृष्टि से वे खेती करते थे लेकिन उसमें भी पूरा विवेक रखते थे। खेती में महा-आरंभ नहीं होता है और भी कई धंधे अल्पारंभ के हो सकते हैं। इस के विपरीत कई धंधे महा-आरंभ के होते हैं परन्तु ऊपर से ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता है। जैसे ब्याज लेने का ही धंधा है। ऊपर से यह लगता है कि इसमें चींटी की टांग को भी चोट नहीं लगती, लेकिन असल में यह धन्धा कितना शोषक और मानव रक्त को पीने वाला हो गया है, जिस का अनुभव आप में से कई लोगों को होगा। कोई भी धन्धा हो-अपने स्वार्थ पर आधारित नहीं हो बल्कि दूसरों को सहयोग देने की भावना वाला भी हो। पहले कोई सार्थवाह व्यापार के निमित्त जहाज लेकर विदेशों के लिये चलता था तो नगर में जाहिर सूचना करवा देता और जो भी चलना चाहते, सबको व्यापारिक सहयोग देता। उन की वृत्तियों में उदारता होती थी।

तात्पर्य यह है कि धन्धा या व्यवसाय-यह बाहर की प्रवृत्ति होती है लेकिन यह प्रवृत्ति भी भीतर की सद्वृत्ति से जुड़ी हुई होनी चाहिये। कोई-कोई कह देते हैं कि धन्धे में धर्म नहीं देखा जाता याने कि धन्धे में उचित-अनुचित सब कुछ करना उचित हैं। यह गलत दृष्टिकोण है और अन्तःकरण को अनैतिकता से रंगने की बात है। ब्याजखोरी के धन्धे का आज का रूप महा-आरंभ वाला हो गया है और ऐसी विकृति इसी कारण आती है कि बाहर को भीतर से जोड़कर नहीं रखा जाता है और ऐसी मनोदशा में भीतर का श्रेष्ठ लक्ष्य भी सामने नहीं रह पाता है।

बाहर-भीतर की कसौटी पर भीतर-बाहर का मूल्यांकन:

बाहर की कसौटी पर भीतर का तथा भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्यांकन किया जा सके और वैसा मूल्यांकन खरा उतरे, तब समझना चाहिये कि बाहर और भीतर की एकरूपता स्थापित हो गई है। जो भीतर में होगा, वही बाहर के व्यवहार में प्रकट होगा तथा बाहर के व्यवहार से पक्का अनुमान लगाया जा सकेगा कि भीतर का विचार कैसा है? बाहर और भीतर जब एकरूप बनकर सदाचरण की दिशा में गति करते हैं, तब वहां पर आत्मा के व समग्र जीवन के कल्याण का प्रसंग बनता है।

बाहर के व्यवहार की तरफ आपका ध्यान दिलाऊं कि मैं जब उड़ीसा में विहार कर रहा था तब बंगूमुंडा गांव में मुझे सुनने को मिला कि एक उड़िया व्यक्ति ने किसी व्यापारी से 20) रु. उधार लिये थे। उस व्यापारी ने ब्याज जोड़कर थोड़े दिनों में ही 100) रु. बना लिये। उस बीच में पालिका या पंचायत का चुनाव आ गया और वह व्यापारी भी उस में उम्मीदवार बना। उसने उस उड़िया से कहा कि तू मुझको वोट देना और देगा तो तेरे बकाया रुपये माफ कर दूंगा वरना तुरन्त वंसूल करूंगा। संयोगवश उसने दूसरे उम्मीदवार को वोट दे दिया और उसका उसको पता चल गया। फिर क्या था, उसने दावा किया, कुड़की लाया व कच्ची झोंपड़ी को नीलाम कराने लगा। उसकी पत्नि गर्भवती थी जिसके लिये उसने थोड़ा सा पांच दस सेर धान जमा कर रखा था उसको, टूटे-फूटे बरतनों को, कपड़ों को सबको नीलाम करवा दिया। वह बहुत रोया, गर्भवती पत्नि के लिये दवा की भीख मांगी परन्तु उसका हृदय नहीं पसीजा। वह प्रसन्न हो रहा था कि वोट नहीं देने का खूब मजा चखाया। ऐसे व्यवहार को आप क्या कहेंगे और ऐसे व्यवहार से उसके भीतर का क्या अनुमान लगायेंगे कि वह दिल से कितना काला और क्रूर था? यह कैसा धन्धा है और यह मनुष्य को मनुष्यता से भी कितना पतित बना देता है?

इस बाहर के व्यवहार की तरफ इसलिये बल देना चाहता हूं कि सभी को इसके सम्बन्ध में अपने-अपने धंधे, व्यवसाय अथवा सामान्य व्यवहार की आलोचना स्वयं करने का अवसर मिले तथा स्वयं अनुमान लग सकें कि ऐसा

धंधे के या अन्य किसी भी बात के निमित्त से बाहर का जो व्यवहार किया जाता है उस समय भीतर का विचार कितना निर्दयी, कठोर और क्रूर हो जाता है? और यदि ऐसा होता है तो मानना पड़ेगा कि बाहर भी मैला है और भीतर भी मैला है। इसलिये सदा ही आलोचना इस दृष्टि से करनी चाहिये कि बाहर की कसौटी पर भीतर का और भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्यांकन करें तथा दोनों को एकरूप बनाते हुए दोनों के संशोधन तथा परिमार्जन के उपाय करते रहें।

इस एकरूपता से महानता की उपलब्धि:

इस प्रकार की एकरूपता से महानता की उपलब्धि होती है और महानता सदा ही आत्मोन्नति से सम्बन्धित होती है। संसारी व्यक्तियों में ऐसे भी होते हैं जो ऐसा क्रूरतापूर्ण ब्याज का अथवा महा-आरंभ का धंधा नहीं करते हैं तथा चौबीसों घंटे नैतिकता का तथा भीतर के विचार व बाहर के व्यवहार की शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। इन्द्रियों की आसक्ति से भी वे दूर रहते हैं तथा आत्मार्थी बनकर जीवन को लोकोपकार में नियोजित कर देते हैं। ऐसे पुरुष संसार को त्याग कर मुनि धर्म के साधना पथ पर भी अग्रसर होते हैं।

जीवन के इस आध्यात्मिक निर्माण के प्रति आपको भी उपेक्षित नहीं रहना चाहिये और यथा-शक्ति इस दिशा में प्रवृत्ति करनी चाहिये। बाहर के अपने व्यवहार को देखें-भीतर के विचार की समीक्षा करें और दोनों स्रोतों से सौजन्यता का प्रवाह प्रवाहित करें।

१११

8. आध्यात्मिक क्रिया क्या है और क्या नहीं?

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी आत्मरामी नामी रे।

अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

जो कुछ भी संसार का रूप दिखाई दे रहा है, उसमें दो ही अवस्थाएं काम कर रही हैं, एक तो क्रिया और दूसरी उसकी प्रतिक्रिया है। लेकिन क्रिया और प्रतिक्रिया को करने वाला कर्ता, जिसको वैयाकरणों ने स्वतंत्र कर्ता की संज्ञा दी है, वह आत्मा है। शास्त्रकारों ने भी आत्मा को कर्ता माना है। आत्मा में ही ये सारी शक्तियां रही हुई हैं। आत्मा द्वारा ही संसार की यह समस्त रचना है। छोटे से छोटा मकान हो या बड़े से बड़े भव्य भवन हो- इसकी निर्माण कला इस चैतन्य स्वरूपी आत्मा में ही है। जहां वीरान जंगल थे, वहां बड़ी-बड़ी बस्तियों का निर्माण इसी आत्मा ने कराया। जहां ग्रामीण बस्तियां बनी, वहां बड़े-बड़े नगर भी बसे। यातायात के साधनों का विकास होते-होते बड़ी मात्रा में विशाल वाहनों की सृष्टि हो गई। इन सारी कलाओं की निर्माण करने वाली आत्मा अपनी क्रिया शक्ति से ही सारे कार्य करती है।

इसलिये आत्मा के अनेक प्रकार के स्वभावों के बीच में क्रियावती शक्ति को भी आत्मा का स्वभाव ही कहा जाता है। यह आत्मा किसी भी समय में बिना क्रिया के नहीं रहती है। प्रतिक्षण, प्रतिसमय इसकी कुछ न कुछ क्रिया बनती रहती है।

सत् के तीन रूप:

जहां शास्त्रीय दृष्टि से तत्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, वहां वस्तु या तत्व के स्वरूप में मुख्य तौर पर तीन प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि-

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् ।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण दिखाई देने वाली जो तीन प्रकार की अवस्थाएं होती हैं- वे हैं उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य । जिसमें ये तीनों अवस्थाएं दिखाई दे, वही वस्तु या तत्त्व है । इस व्याख्या को लेकर के दार्शनिक जगत् में बड़ी हलचल का प्रसंग आया । तर्क और प्रति तर्क-हेतु और प्रति हेतु से इस बात को सिद्ध करने की कोशिश की गई कि आत्मा निष्क्रिय है ।

लेकिन वीतराग देवों ने वस्तु की जिस व्याख्या का प्रतिपादन किया और जो व्याख्या इस आत्मा पर भी लागू होती है, उस अटल सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के अद्वितीय विवेक-स्वरूप का वर्णन हुआ है । संसार के प्रत्येक पदार्थ के साथ क्रियावती शक्ति का प्रतिपादन करके उनके द्वारा स्वरूप की वास्तविकता प्रकट हुई है । अन्ततोगत्वा तर्क करने वालों की प्रतिभा उनकी बुद्धि संसार में दिखाई देने वाले पदार्थों में उलझी तो यहां से हटकर परमात्मा तक पहुंची और सहज ही प्रश्न खड़ा हुआ कि संसारी आत्माओं में तो आप क्रियावती शक्ति को सिद्ध कर सकते हैं लेकिन जैन सिद्धांत के अनुसार जैसा सिद्धों का स्वरूप है, उस स्वरूप की प्राप्ति में ज्ञान और क्रिया का योगदान रहा, लेकिन ऐसा संसारी स्वरूप था तब तक रहा । सिद्ध स्वरूप पाने के बाद वह नहीं रहा तो सिद्ध स्वरूप में रहने वाली आत्मा आपकी इस परिभाषा में नहीं आयगी, तब उसे तत्व या वस्तु कैसे कहेंगे ? जैन दार्शनिकों ने इसका युक्तियुक्त सचोत्तर देते हुए कहा कि सिद्ध भगवान् की आत्मा भी तत्व रूप है तथा उसमें भी क्रिया काम कर रही है ।

यह बात हर किसी की समझ में जल्दी से नहीं आती है । आप सोचेंगे कि सिद्ध स्थिति में क्रिया कहां रहती है ? यह सोचना स्थूल दृष्टि का है । क्योंकि बहुत दिनों का अभ्यास यही बना हुआ है कि हाथ-पैर हिलाते हुए कुछ न कुछ करते रहने का नाम ही क्रिया है, किन्तु ऐसी क्रिया तो शरीर की होती है । सिद्ध भगवान् के शरीर नहीं होता और कर्म भी नहीं होते । आठों कर्म से वे रहित होते हैं, इसलिये फिर वही प्रश्न उठता है कि वहां तब क्रिया किस बात की ? प्रश्न भी प्रश्न के स्थान पर ठीक है । बारीक दृष्टि से वस्तु के लक्षण को पायेंगे तो ज्ञात होगा कि वहां भी क्रिया है । उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप तीनों अवस्थाएं भी हैं । उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य यह सत् का स्वरूप है तथा सिद्धात्मा को भी सत् माना है तो उसमें तीनों अवस्थाओं का होना भी अनिवार्य है । इस सम्बन्ध में जैन आचार्य का कथन है कि-

प्रतिक्षणोत्पाद विनाशयोगी, स्थिरैकमध्यक्षमपी क्षमाण ।

उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि एक समय में एक क्रिया की है तो दूसरे समय में दूसरी क्रिया माने और समय की जो व्याख्या की गई है, वह यह है कि आँख की एक पलक गिरावे तब तक असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं । ऐसे बारीक समय में एक वस्तु या तत्व में तीनों प्रकार की अवस्थाएं प्रवर्तित होती रहती हैं ।

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का स्वरूप-विश्लेषण:

प्रत्येक वस्तु का पहले समय में उत्पादन हो रहा है, दूसरे समय में वह व्यतीत हो रही है, फिर भी उसकी शाश्वतता उसके साथ बनी हुई रहती है । प्रति समय उत्पाद एवं व्यय के साथ ध्रौव्य का लक्षण भी वस्तु के साथ जुड़ा हुआ है । जैसे संसारी आत्माओं में सत् का यह लक्षण दिखाई देता है, वही सत् का लक्षण सिद्धात्माओं में भी है ।

उत्पाद का तात्पर्य है कि पर्याय की दृष्टि से वस्तु की नवीन उत्पत्ति हो रही है । पहली पर्याय का व्यय होता है, तब नई पर्याय का उत्पाद होता है । एक व्यक्ति बाहर से चल कर आ रहा है । यह जो चलने की क्रिया है, वह उसकी वर्तमान क्रिया हुई । जब वह बैठ गया तो उसके चलने की क्रिया समाप्त हो गई और बैठने की क्रिया उत्पन्न हुई । चलने वाला भी वही है और बैठने वाला भी वही है-यह ध्रौव्यता है । इस प्रकार बड़े रूप में ये तीनों अवस्थाएं चलती हैं । इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान सिद्धों को है या नहीं ? सिद्धों को तीनों अवस्थाओं का ज्ञान है तभी तो वे सिद्ध हैं । यदि यह

ज्ञान उनमें नहीं माना जाता है तो फिर उनका सिद्ध स्वरूप ही कैसे होगा? अभिप्राय यह है कि उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का स्वरूप प्रत्येक तत्व के साथ लगा हुआ है।

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य के स्वरूप का विश्लेषण भलीभांति समझने के लिये एक दृष्टान्त लेलें। समझिये कि एक स्वर्ण का टुकड़ा है जिसका आकार चोकोर डली के रूप में है। स्वर्णकार ने उस डली को तोड़ी या गलाई तो उसकी चोकोर आकृति नष्ट हो गई। फिर उसने उस सोने से एक चैन बनाई तो चैन के रूप में एक नवीन आकृति की उत्पत्ति हुई। चोकोर आकृति या चैन की आकृति-इनको पर्याय कहते हैं। स्वर्ण चोकोर डली में भी था और चैन की आकृति में भी वही स्वर्ण है। यह उसका ध्रौव्य रूप है। स्वर्ण की डली के रूप की एक पर्याय का व्यय हुआ तो चैन रूप आकृति की पर्याय का उत्पाद हुआ। और स्वर्णपना दोनों में शाश्वत है वह उसका ध्रौव्य रूप है। इस प्रकार ये तीनों अवस्थाएं प्रत्येक वस्तु में प्रति समय चलती रहती हैं।

इन तीनों अवस्थाओं को देखने की शक्ति सिद्धों की होती है। सिद्धों में जो ज्ञान शक्ति है, उसमें वे डली आकृति को विनाश के रूप में देखेंगे और चैन की उत्पत्ति को उत्पाद के रूप में। सोना ध्रुव रूप दिखेगा ही। कोई भी आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं रहती है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण होता है और जो गुण होता है, वह गुणी से अभिन्न होता है। सूर्य का गुण प्रकाश है तो सूर्य उससे अलग नहीं रह सकता। गुण और गुणी का अभिन्न सम्बन्ध होता है। प्रत्येक आत्मा इसी ज्ञान गुण की सहायता से उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रूप वस्तु के स्वरूप का विश्लेषण कर सकती है।

सिद्धों में उत्पाद व्यय ध्रौव्यता:

वस्तु स्वरूप का विवेचन करने का ज्ञान आत्मा में ही होता है। ऐसी पूर्ण ज्ञान शक्ति सिद्धों की अवस्था में होती है। उनका ज्ञान अनन्त ज्ञान होता है। सूर्य और उसकी किरणों की तरह आत्मा और उसका ज्ञान गुण अभिन्न होता है। उससे यह ज्ञात हुआ कि सोने की चोकोर डली नष्ट हुई, चैन की नई आकृति उत्पन्न हुई तथा सोना धातु रूप में ध्रौव्य रहा। इसी भांति काल पर्याय है। भूत चला गया, वर्तमान चल रहा है और भविष्य आगे आयगा। सिद्ध भी इन पर्यायों को अपने अनन्त ज्ञान में देखते हैं और वह ज्ञान की अवस्था उनसे अभिन्न होती है। उसी अभिन्नता से उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य की तीनों अवस्थाएं घटित होती हैं। यह क्रिया है। ध्रौव्य अन्तर का रूप है। यह क्रियावती शक्ति वहां कार्य कर रही है लेकिन शरीर नहीं है। इसलिये शरीर की क्रिया नहीं हो रही है। मन नहीं है, इसलिये मन की क्रिया नहीं हो रही है। सिद्धों की यह क्रिया चक्षुओं से देखने वाली क्रिया नहीं होती है।

वस्तु का स्वभाव रमण है। इसलिये श्रद्धामय भाषा में कहा जाता है कि सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप में रमण कर रहे हैं। रमण करना भी क्रिया है। इसलिये वीतराग स्वरूप को उसके सही संदर्भ में समझना चाहिये। यह विराट विश्व भी जो चल रहा है, वह क्रिया की स्थिति से अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। सिद्धों के स्वरूप को मैंने दार्शनिक चर्चा की दृष्टि से उपस्थित कर दिया। इसलिये कि आप सत् के स्वरूप को समझने की चेष्टा करें तथा अपनी आत्मा के संदर्भ में उस स्वरूप के विवेचन से सत्य के समीप गतिशील बनें। आप यहां पर पहुंचे हैं तो किसलिये पहुंचे हैं? यहां पर किस वस्तु को लेने आये हैं? यहां तो ज्ञान के आदान-प्रदान का प्रश्न है। श्रवण करने के लिये आते हैं तो श्रवण करना भी एक क्रिया है और सुनाना भी एक क्रिया है लेकिन यह भी एक महत्वपूर्ण क्रिया है कि सुनी हुई बात को आप अपने जीवन में उतारें।

आत्मा के संदर्भ में वस्तु स्वरूप का विवेचन यह होगा कि आत्मा तत्व के रूप से ध्रौव्य है, लेकिन कर्मों से सम्पर्क होने के कारण उसकी नित नवीन पर्यायें बदलती रहती हैं और इससे उत्पाद एवं व्यय की अवस्था प्रकट होती है। कर्मों से वह हल्की भी होती है और भारी भी बनती है-प्रति समय की जाने वाले किसी न किसी क्रिया का प्रभाव पर्याय परिवर्तन के रूप में उस पर पड़ता ही रहता है। इसलिये इस विवेचन का मूल अभिप्राय यह है कि आत्मा का

कर्म बन्धन छूटे तथा उसका ध्रुव स्वरूप अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रकट हो। यह आत्मा अनादिकालीन संसार की कैद से छुटकारा पावे एवं सिद्धों की अवस्था प्राप्त करके सदा सर्वदा पवित्रतम स्वरूप में रमण करें। वहीं स्वरूप आत्मा का मूल एवं ध्रुव स्वरूप होता है जो अपरिवर्तनशील, सदा अडोल और सुख व शांति से भरपूर होता है। उसी ध्रुव स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना ही वस्तु स्वरूप के विवेचन को आत्मा के संदर्भ में सही विधि से आत्मसात् करना है।

आध्यात्मिक पाठशाला:

वीतराग देव के पवित्र सिद्धान्तों का स्वरूप चाहे परिपूर्ण रूप से समझ में आवे या नहीं, लेकिन प्रत्येक का अन्दर का लक्ष्य यह अवश्य होता है कि हमको सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, वास्तविक सुख शान्ति चाहिये। संसार में भटकने से यह आत्मा ऊब गई है। एक तरह से संसार का अपरिमित वैभव भी इसको मिल जावे तब भी इस को शान्ति नहीं मिलेगी। परम शान्ति को पाने के उद्देश्य से ही भव्य आत्माएं सन्तों के समीप में आती हैं और उनके उपदेशों को सुनकर चिन्तन करती हैं। उनका लक्ष्य यह रहता है कि एकाग्र मन से सुनना और सुनने के अनुसार जीवन में उसका प्रयोग करना। जब इस भावना से आत्मा के अधिमुख होकर क्रिया का क्रम बनता है तो वह क्रम आध्यात्मिक क्रियाओं का क्रम कहलाता है।

आप भी इस आध्यात्मिक पाठशाला में आते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि आपको सुबोध रीति से बोध दें। कभी-कभी विषय कठिन होता है लेकिन इस बात का खयाल अवश्य रहता है कि आप उलझन में नहीं पड़ें और ऐसा न हो कि कुछ भी ग्रहण नहीं करें। स्कूल में जब एक विद्यार्थी प्रवेश लेता है और अध्यापक तथा प्रथम कक्षा के विद्यार्थी आमने-सामने बैठते हैं तो अध्यापक जानता है कि इनको प्रथम कक्षा के योग्य जानकारी देनी है। लेकिन उस विद्यार्थी का भी यह ध्यान रहना चाहिये कि उसको भी जल्दी-जल्दी ऊंची कक्षाओं में चढ़ना है। एम.ए. तक पहुंचना है। आज वह एम.ए. की बात को नहीं समझता लेकिन आहिस्ते-आहिस्ते वह अपने अध्यापक की शिक्षा का खयाल रखते हुए उसी दिशा में आगे बढ़ेगा। उसको अपनी उन्नति का ध्यान होगा तो वह सीढ़ी पर सीढ़ी ऊपर चढ़ता जायगा।

वैसे ही यह आध्यात्मिक पाठशाला है और इसकी कक्षाओं में आध्यात्मिक ज्ञान तथा क्रियाओं के पाठ पढ़ाये जाते हैं। स्वयं ज्ञान का अर्जन भी किया ही है। मैं सिद्ध स्वरूप तथा तात्त्विक दृष्टि से कुछ गहन बातें भी रख देता हूँ किन्तु श्रोता इससे यह न समझ लें कि हम महाराज के समीप पहुंच गये तथा व्याख्यानकर लिया इतने मात्र से बस कृतकृत्य हो गये, आगे कुछ नहीं करना है। इस सूक्ष्म चर्चा का मूल अभिप्राय यह है कि आप स्वरूप चिन्तन की गहराई में उतरें, आध्यात्मिक क्षेत्र को समझें तथा आध्यात्मिक क्रियाओं की दिशा में पुरुषार्थ पूर्वक आगे बढ़ें। कक्षा में चलने लगे तो परीक्षा का प्रसंग भी आयगा और ऊपर की कक्षाओं में चढ़ने का सौभाग्य भी मिलेगा।

आध्यात्मिक क्रियाएं:

अब वर्तमान पर आ जावें। आप वर्तमान संसार को देख रहे हैं। इसमें हो रही क्रियाओं को देख रहे हैं और उनकी प्रतिक्रियाओं को देख रहे हैं। लेकिन इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को जांचने-परखने की आवश्यकता है तथा इनमें उचित संशोधन लाने की आवश्यकता है। यह संशोधन इस कसौटी पर किया जाना चाहिये कि कौनसी क्रियाएं आध्यात्मिक हैं-अर्थात् आत्मा की और अभिमुख कराने वाली हैं तथा कौनसी क्रियाएं आध्यात्मिक नहीं हैं अर्थात् आत्मा से विपरीत दिशा में सांसारिकता में फंसाने वाली क्रियाएं हैं?

क्रिया हो रही है और उसके आधार पर जीवन चल रहा है, लेकिन क्रिया के होने तथा जीवन के चलने में यह संशोधन करना है कि यह क्रिया क्यों की जा रही है, उसके कारण यह जीवन किस रूप में चल रहा है तथा वास्तव में क्रिया जीवन को आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाने वाली कैसी हों? इस संशोधन के साथ क्रिया का ध्यान रखना

शुरु कर देंगे तो एक प्रकार से आध्यात्मिक दृष्टि के विकास का मुल कार्य प्रारंभ हो जायगा। तब प्रत्येक क्रिया करते हुए यह विचार रहेगा कि आप हाथ हिला रहे हैं तो क्यों हिला रहे हैं, आप जा रहे हैं तो किस लिये जा रहे हैं और कुछ भी कर रहे हैं तो उस करने का उद्देश्य क्या है? जब प्रत्येक क्रिया में उद्देश्य स्पष्ट रूप से खोजा जाने लगेगा तो फिर क्रिया के विकृत होने का खतरा मिट जायेगा और उसको परिमार्जित करते रहने का ध्यान ही मुख्य बन जायगा। तब मूल बात की ओर ध्यान केन्द्रित हो जायगा कि आप यह जीवन जी रहे हैं तो क्यों जी रहे हैं?

जीवन में अनेक घटनाएं घटित हो रही हैं। भिन्न-भिन्न क्रियाएं चल रही हैं। अलग-अलग पृष्ठभूमि में अलग-अलग व्यक्ति अपना अलग-अलग कार्य कर रहे हैं। इन सबके कार्य के साथ उद्देश्य और सार्थक उद्देश्य जुड़ जाय तो जीवन का आध्यात्मिक आधार तैयार हो जाता है। इस आधार पर अगर निष्ठापूर्वक प्रगति की जाती रहे तो वैसा जागरुक व्यक्ति आगे से आगे की आध्यात्मिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता हुआ चला जायगा।

मूल बात यह है कि आध्यात्मिक क्रिया की परख करने वाली कसौटी मन में तैयार हो जानी चाहिये। यह गिनती करने की जरूरत नहीं पड़ती है कि कौन-कौनसी क्रियाएं आध्यात्मिक हैं और कौन-कौनसी क्रियाएं आध्यात्मिक नहीं हैं। जब यह कसौटी कार्यशील होती है तो प्रत्येक क्रिया की तभी जांच हो जाती है और वही क्रिया अपनाई जाती है जो आध्यात्मिक होती है। इस लिये क्रिया करने से पहले क्रिया का उद्देश्य स्पष्ट बन जाना चाहिये।

उद्देश्यानुरूप क्रिया:

उद्देश्य स्पष्ट हो और वह उद्देश्य श्रेष्ठ हो तो वैसे उद्देश्य के साथ जब कोई भी क्रिया की जायगी तब उसकी पुष्ट आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का बन जाना सुनिश्चित हो जायगा। मैं आपसे प्रश्न कर लूं कि आप किसलिये चलते हैं? किसलिये खाते हैं? आप उत्तर दे देंगे कि भूख लगती है, इसलिये खाते हैं। खाने के लिये चाहिये इसलिये चलते हैं- व्यापार करते हैं, नौकरी करते हैं या कोई भी धंधा करते हैं। यह तो सामान्य उत्तर हुआ। भूख शरीर की आवश्यकता होती है-खाना खाने से शरीर चलता है लेकिन संशोधन उद्देश्यचिन्तन के सम्बन्ध में यह है कि शरीर को किस काम के लिये चलाना है? सांसारिकता में फंसाने वाले काम के लिये अथवा सांसारिकता से उबार कर आत्मकल्याण के काम के लिये जब उद्देश्य श्रेष्ठ निष्ठा के साथ स्पष्ट हो जाय कि शरीर को आत्म-पुरुषार्थ में लगाना है तो उस व्यक्ति का खाना और चलना उसकी प्रत्येक क्रिया सोद्देश्य हो जायगी। क्रिया वही होती है, लेकिन उसके साथ में श्रेष्ठ उद्देश्य जुड़ जाता है तो वह आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

एक व्यक्ति बहुत शीघ्र गति से आ रहा है। उसकी कुछ सांस चढ़ रही है, पसीने से झबाझोल हो रहा है और भीड़ से अलग हटता हुआ चला आ रहा है। उससे पूछा जाय कि भाई, इतनी तेजी से क्यों चल रहे हो? वह कहेंगा कि बहुत जल्दी है। लेकिन जाना कहां है? वह उत्तर दे कि यह तो पता नहीं है कि जाना कहां है? इस उत्तर से उसके चलने के बारे में और उसकी बुद्धि के बारे में क्या अनुमान लगायेंगे? वैसी वर्तमान मानव समाज की दशा हो रही है। दौड़ बहुत लग रही है-तेजी से लग रही है, मगर यह पता नहीं है कि जाना कहां है? किसी व्यक्ति का कहीं जाने का ठिकाना नहीं और वह स्पष्ट दौड़ लगाता जावे तो उस क्रिया का क्या अर्थ लगाना होगा? उसको क्या आप पागल नहीं कहेंगे? लेकिन कुछ तात्त्विक दृष्टि से सोचा जाय तो क्या अधिकांश लोग इसी पागलपन की कोटि में नहीं आ जायेंगे? ऐसे लोगों की संख्या कितनी होगी जिनका लक्ष्य न स्थिर है और न स्पष्ट, लेकिन चले जा रहे हैं। यदि यहां से बीकानेर या कलकत्ता जाना हो और उस दिशा में गति शुरु की जाय तो यह समझ में आ सकता है कि लक्ष्य निर्धारित है। वैसे ही इस जीवन में भी यदि लक्ष्य निर्धारित हो तो फिर प्रत्येक क्रिया उसी लक्ष्य की तरफ गति कराने वाली बन जायगी। फिर उस लक्ष्य की पूर्ति करने की दृष्टि से जो दौड़ने या चलने की या कुछ भी करने की क्रिया की जायगी, वह क्रिया सोद्देश्य और सार्थक कहलायगी।

निज स्वरूप जो क्रिया साधे, ते अध्यात्म लहिये रे ।

यदि मोक्ष नगर तक पहुंचना हैं-शाश्वत परम सुख को पाना है और वास्तविक आत्म-शक्ति में रमण करना है तो इस लक्ष्य के सुस्पष्ट रीति से निर्धारण करने का प्रश्न है। ऐसे निर्धारण के बाद आपकी समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाएं इसी दिशा में मुढ़ जायगी। एक ही ध्यान रहेगा कि चलना वर्तमान जीवन निर्वाह की दृष्टि से हैं, इसलिये चल रहे हैं लेकिन इस चलने का और जीवन के निर्वाह का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। जब कोई व्यक्ति कलकत्ता जाने का निर्णय करता है तो वह पता लगता है कि कलकत्ता किस दिशा में स्थित है तथा वहां पहुंचने का मार्ग और साधन क्या है? फिर वह पूर्व दिशा में ही उपयुक्त साधन के माध्यम से चलेगा। वैसे ही यदि जीवन का लक्ष्य स्थिर कर लिया जाय कि आत्मा का परिपूर्ण विकास करके सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है तो फिर जीवन की समस्त क्रियाएं इस लक्ष्य की पूर्ति में जुट जायगी। लक्ष्य निर्धारण के बाद की जाने वाली गति में ही स्थिरता पैदा होती है।

जब लक्ष्य श्रेष्ठ और सुस्पष्ट होता है तो क्रिया में प्रगति भी आ सकती है। उत्कृष्ट भावना बनने पर क्रिया तीव्र बनती है। ऐसे पुरुष अपने जीवन में संसार पक्ष के जितने लक्ष्य होते हैं, उनको गौण मानकर छोड़ देते हैं तथा अपनी समस्त क्रियाओं को मोक्ष प्राप्ति की दिशा में मोड़ देते हैं। इसी सत्य का संकेत प्रार्थना में दिया गया हैं-

निज स्वरूप जो क्रिया साधे, ते अध्यात्म लहिये रे ।

जो किरिया करि चडगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे ॥

एक साधक जिन क्रियाओं से मोक्ष गति की साधना करता है, वे क्रियाएं आध्यात्मिक कहलायगी, लेकिन वे क्रियाएं कभी भी आध्यात्मिक नहीं कहलायगी जिनके द्वारा संसार की चतुर्गति को साधने का कार्य किया जाता हो।

एक अध्यात्म शब्द की गहराई को समझ लीजिये। एक कवि अपनी काव्य एवं चिन्तन की गहनता के साथ प्रातःकाल के समय एक विराट् समुद्र के किनारे खड़ा है। समुद्र की लहरें हिलोरे ले रही हैं और सूर्य की किरणों उन लहरों में झिलमिल कर रही हैं। वह लहरों और किरणों के तालमेल को निहार रहा है, चिन्तन कर रहा है तथा तत्त्व का अनुसंधान कर रहा है। वह उसमें तल्लीन हो गया। इतने में समुद्र में ज्वार उठा और वह तेज हिलोर के साथ भीतर में चला गया-पानी में गोते खाने लगा। आया सो आया अब उसका क्या किया जाय? उसका ध्यान तब सारे संसार और अपने शरीर से भी हट गया। वह बाहर के साथ साथ भीतर में भी स्वयं के जीवन की तरंगों में बहने लगा। वहां वह अपने आत्मिक स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा।

लेकिन संयोग ऐसा बना कि उसकी मृत्यु का प्रसंग नहीं आया। लहरों के द्वारा वह समुद्र के किनारे पर फेंक दिया गया। किनारे पर एक दयालु पुरुष खड़ा था, उसने उसको सावधान किया और कहा-तेरा भाग्य है कि समुद्र से बाहर आ गया है-अब पूरी सावधानी रखकर बाहर आ जा ताकि ज्वार के दूसरे धक्के में फिर कहीं अन्दर गोते नहीं खाने लगे। यह सुनकर वह संभल गया और अपने अभीष्ट कार्य सिद्धि की साधना में लग गया। यह रूपक है सांसारिकता से आध्यात्मिकता को दिशा में मुड़ जाने का। इस रूपक को आप अपने जीवन में भी लागू कर सकते हैं। संसार में रोज गोते खा रहे हैं-समुद्र का पानी माथे में चढ़ता रहता है। इस बीच जब भी कुछ किनारे पर आ जाते हैं तो संतों की दयालु वाणी पर ध्यान देकर सावधान बन जाइये फिर क्रियाएं सध जायगी।

अमूल्य अवसर को न खोएं :

तीर्थकरदेव महावीर प्रभु ने इस मनुष्य जीवन को संबोधित करते हुए संकेत दिया है-

तिन्नो हु सि अण्णसे महं, किंपुण चिसि तीर मागओ ।

अभितुरं पारं गमित्तए, समयं, गोयम ! मा पमायए ॥

गौतम स्वामी के नाम से यह सम्बोधन प्रत्येक भव्य प्राणी के लिये है कि इस संसार समुद्र को तैर कर किनारे तक आ गया है फिर क्यों किनारे पर आकर बैठ गया है? थोड़ी सी क्रिया और कर, थोड़ा सा पराक्रम और दिखा तो पार हो जायगा। यदि ऐसा करना है और सावधानी की क्रिया पकड़नी है तो क्षण मात्र का भी प्रमाद क्यों कर रहा है? कहीं फिर ज्वार का हिलोरा न आ जाय और तुझे फिर से समुद्र की गहराई में गोते खाने के लिये वह न छोड़ दे। इसलिये समय मात्र का भी आलस्य करना उचित नहीं है। जागे और चलो।

मनुष्य जीवन की स्थिति समुद्र के किनारे के समान मानी गई है। चौरासी लाख योनियों में भौतिक तत्त्वों की लालसाएं लेकर भटकते-भटकते यह जागृति की अवस्था आई है अब यहां पर थोड़ा सा पुरुषार्थ कर लिया जाय-क्रियाओं को आध्यात्मिक रूप दे दिया जाय तो गंतव्य स्थान पर पहुंचा जा सकता है। इस मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिये ज्ञानीजनों का कथन है कि जितनी क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं शरीर के साथ बंध रही हैं, उनको आत्मा के साथ जोड़ दीजिये-भौतिकता से हटाकर उन्हें आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कीजिये फिर जब लक्ष्य स्पष्ट हो जायगा तो गृहस्थ जीवन की क्रियाएं भी नैतिक बन जायगी और वे भी साधु जीवन को अंगीकार करने में प्रेरणा देगी। आत्मशुद्धि का लक्ष्य जब प्रमुख बन जायगा तो वह व्यक्ति साधुता से दूर कैसे रह सकेगा ?

वस्तुतः साधु, साध्वी और श्रावक, श्राविका के लक्ष्य भिन्न नहीं है- गति में और क्रिया में फर्क है। जो साधु-साध्वी का लक्ष्य है, वही आपका लक्ष्य है। अन्तर यही है कि साधु परिपूर्ण त्याग के साथ उस लक्ष्य की तरफ चल रहा है, लेकिन आप कभी ढीले, कभी सधे हुए चलते हैं और गति में पीछे हैं। आंशिक त्याग तो आपमें होना ही चाहिये और नहीं है तो मंगलाचरण के रूप में ही प्रारंभ कर दें। हाथ से इस अमूल्य जीवन की बाजी निकल जाने के बाद वह फिर से हाथ में आने वाली नहीं है, इसलिये अब क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं किया जाना चाहिये।

१११

9. कुविचारों के कंटीले पौधे एवं कुरीतियों की दुर्गन्ध

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी.....

इस जीवन के परम पवित्र भीतरी स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिये दिव्य पुरुषों का स्मरण प्रतिक्षण-प्रति श्वास आवश्यक बन जाता है। मानव जीवन की वाटिका में सुगन्धित पुष्पों के खिलने तथा उनकी मधुर सुगंध के समस्त वायु मंडल में व्याप्त हो जाने का प्रसंग है, लेकिन उसके पहले यह देखना जरूरी है कि उस सुगन्ध की विरोधी दुर्गन्ध वहां किस कदर फैली हुई है जो आत्मा के स्वास्थ्य को विकृत बनाये हुए हैं। यह दुर्गन्ध पहले दूर करनी होगी, तभी सुगन्ध की सुवास आन्तरिकता को आल्हादित कर सकेगी।

दुर्गंध दूर होगी और सुगन्ध फैलेगी तो जीवन की उन्नतिशील गति प्रारम्भ होगी। वाटिका में ऐसा परिवर्तन लाने के लिये वाटिका के माली को सावधान होने की आवश्यकता है। माली असावधान रहेगा तो कुविचारों के कंटीले पौधे पनपते जायेंगे और कुरीतियों के विषैले फूलों की दुर्गन्ध से वाटिका का वातावरण दूषित बनता जायगा। माली की ही सावधानी होती है कि वह वाटिका में एक भी विषाक्त और दुर्गन्ध युक्त पौधा नहीं पनपने देता है और ऐसी फूल पत्ती विकसित करता है जो सुगन्ध से भरपूर हो।

प्रवाह का नियन्त्रण तथा वृत्तियों का समीक्षण:

इस जीवन रूपी वाटिका का माली या संरक्षक चैतन्य देव होता है, जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान है तथा शरीर की संरचना तथा उसके संचालन की व्यवस्थित वृत्ति में जिसका अमूल्य योगदान है। इसी चैतन्य देव को उसके निजस्वरूप की पूर्ण शुद्धता में अवस्थित बनाना है। इस दिशा में उसका जो विकास साधना है, वही वर्तमान जीवन को भव्य बनाना है। वर्तमान जीवन की भव्यता तथा चैतन्य देव की शुद्धता दोनों परस्पर संबद्ध स्थितियां होती हैं।

मानव का यह जीवन भी प्रतिपल चल रहा है तथा समाज भी अपनी गति से प्रवाहित हो रहा है। मानव-मन की गतिविधियां भी अविराम गति से चलायमान हो रही हैं। लेकिन इस प्रवाह के बीच में यह देखना है कि प्रवाही की क्या अवस्था हैं? क्या वह संज्ञा शून्य बन कर मात्र प्रवाह में बह रहा है अथवा अपनी वास्तविकता के साथ प्रवाह को अपनी नियन्त्रण शक्ति में रख कर स्वयं बहा रहा है? वही प्रवाही समस्त गतिविधियों का संचालक है और उनको देखने-परखने वाला द्रष्टा है। वही दृष्टा पहले तटस्थ रूप से अपने अन्दर की वृत्तियों को देखने का यत्न करे और सारी परिस्थिति का पर्यवेक्षण करे तो वह अपनी आंतरिक अवस्था को पहिचान सकता है। वह प्रतीति ले सकता है कि मेरी इस पवित्र वाटिका में कहां पर क्या हो रहा है? गुणों के फूल जो खिल रहे हैं, वे दुर्गुणों के रूप में जहरीले और दुर्गन्ध वाले फूल हैं अथवा सदगुणों के सुसौरभयुक्त पुष्प खिल रहे हैं।

यदि इस जीवन वाटिका का स्वामी, प्रवाही और द्रष्टा यह चैतन्य देव इस प्रकार का चिन्तन करने लगे तथा अपने मन की गतिविधियों की नियमित रूप से समीक्षण करने लगे तो जीवन में एक अनूठा परिवर्तन दृष्टिगत हो सकता है तथा सृष्टि का भव्य रूप ढल सकता है। दृष्टि बदलती है तो सृष्टि भी बदलती है-जीवन के समूचे व्यवहार में एक नया मोड़ आता है। समय की गति को देखते हुए मानव की विविध वृत्तियों में यदि समुचित विकास होता है तो मानव समय की गति को भी संशोधित बना सकता है। संशोधन एवं परिमार्जन की परिस्थितियों का निर्माण समुन्नत मानव जीवन के द्वारा ही होता है। इसका प्रारम्भ भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से होगा। जीवन जब संशोधित भावनाओं के साथ आत्म द्रष्टा के रूप में चलने लगता है तो उसका प्रभाव परिजनों पर अवश्य पड़ेगा। परिवार के सदस्यों में यदि कोई विषमता या खोटी वृत्ति बन रही है तो एक संशोधित जीवन के प्रभाव से भी उस विषमता का सुन्दर समाधान निकल आवेगा। परिवार के बाद समाज और राष्ट्र की स्थिति भी सुगन्धमय बनती जायेगी। एक बार सुगन्ध का प्रवाह चल पड़ेगा तो वह रुकेगा नहीं।

द्रष्टा की दृष्टि निर्मल हो तथा प्रवाही का अपने जीवन प्रवाह पर पूरा नियन्त्रण हो तो भीतर की वाटिका भी सुगन्धित बनती है और बाहर वाटिका में भी सुगन्ध बिखर जाती है। द्रष्टा और प्रवाही की यदि सुदृढ़ता हो तो सुगन्धमय इस प्रवाह को कोई शक्ति रोक नहीं सकती है। विद्युत् की तीव्रगामी गति रोकनी जा सकती है लेकिन जीवन की पवित्र धाराओं को रोकने की क्षमता किसी में भी नहीं है।

स्वयं ही स्वयं का बाधक या साधक

सुदृढ़ संकल्प के साथ जीवन का प्रवाह जो अजस्र गति से आत्म शुद्धि की दिशा में प्रवाहित होने लगता है तो ओजस्वी आन्तरिक शक्ति उसके पीछे होती है। वह शक्ति यदि समान रूप से शुद्धता की दिशा में बल देती रहे तो जीवन के सुस्थिर प्रवाह में व्यवधान उपस्थित नहीं होता है। लेकिन यही शक्ति जब डांवाडोल होती रहती है तो प्रवाह की सुस्थिर गति भी अस्थिर बन जाती है। इसलिए जीवन का खतरा बाहर से नहीं, हमेशा भीतर से होता है। आत्मा की पवित्रता को रोकने वाली बाहर की कोई शक्ति नहीं है। वह भीतर की ही शक्ति की चंचलता होती है। यदि भीतर का चैतन्य देव ही निद्रा में अलसाता रहे और झूठे स्वप्नों की दुनियां में विचरण करता रहे तो उसी की अपनी दुर्बलता से यह प्रवाह बाधित होता है।

इस जीवन को एक विराट वृक्ष के समान मानें। ऐसे वृक्ष का जब विकास करना होता है तो सभी स्थितियों पर नजर रखनी पड़ती है कि कौन-2 से तत्व उस वृक्ष के विकास को हानि पहुंचा सकते हैं? वृक्ष विराट भी बन जावे,

लेकिन उसकी जड़ों में क्षुद्र जन्तु लग जाय और माली असावधानी बना रहे तो क्या उस वृक्ष की विराट् हरितिमा बनी रह सकेगी? मूल में यदि दीमक और दूसरे जन्तु लग गये हैं, तो वे उस वृक्ष को जर्जरित बना कर ही छोड़ेंगे। उस वृक्ष की स्थिति फिर दयनीय ही बन जाती है। जीवन रूपी वृक्ष की जड़ों के ऐसे जन्तु होते हैं कुविचार, जिन्हें यदि जीवन की स्वामिनी आत्मा नहीं रोक पाती है तो वे कुविचार जीवन को विकृत बना कर पतनोन्मुखी कर देते हैं।

कुविचारों के इन क्षुद्र जन्तुओं को देखने, पहिचानने की दृष्टि इस द्रष्टा की खुल जानी चाहिये ताकि दृष्टिहीनता में कहीं यह जीवन का विराट् वृक्ष जर्जरित न हो जाय। आत्मचिन्तन एवं आलोचन के क्षणों में यह देखें कि अपने विचारों में कुविचारों की शक्ति अधिक है अथवा सुविचारों की, एवं कुविचारों की शक्ति अधिक है तो वे जीवन को किस दिशा में धकेल रहे हैं? उन कुविचारों के कु को दूर करने की शक्ति का विकास किया जाय ताकि यही शक्ति फिर उनके साथ सु को जोड़ सके। चिन्ता इस बात की करें कि मूल स्रोत के पास इस प्रवाह को अवरुद्ध या विकृत करने वाला जो तत्त्व है जो कुछ अंशों में जन्म के साथ आया है, कुछ कर्म बंधन के साथ जुड़ा हुआ है, कुछ अनादि काल की विषमताओं से हैं, कुछ वर्तमान वायुमण्डल से बना है और कुछ गतिशील परिस्थितियों से निर्मित हुआ है, उस मलयुक्त स्वरूप को निर्मल कैसे बनावें?

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मूल स्रोत पर दृष्टि डालनी होगी और जांच करनी होनी कि मूल स्रोत को किन कुविचारों ने मल और दुर्गन्ध युक्त बना रखा है? यदि कोई उन्हें पहिचान कर दूर करता है और विचारों के मूल स्रोत को सुरक्षित कर लेता है तो समझिये कि वह अपना हित साध लेता है। तब वह सद्विचारों का पोषकतत्व जीवनवृक्ष की एक-2 जड़ में इस तरह पहुंचाता है कि वह पल्लवित और पुष्पित होता हुआ चला जाता है। वैसा पल्लवित और पुष्पित वृक्ष अपनी सुगन्ध से स्वयं को और सबको सरोबार करेगा ही।

एक पुष्पित जीवन का व्यापक प्रभाव

जिस जीवन में सद्विचारों और सदगुणों के पुष्पों की सुगन्ध व्याप्त हो जाती है, उस श्रेष्ठ सुगन्ध की प्रभावशीलता भी व्यापक होती है। पहले तो वह सुगन्ध स्वयं के ही जीवन को पवित्र बनाती है तो यह स्वयं का उपकार हुआ। उसके पश्चात् आसपास के परिवेश में समीप या दूरगामी जितने भी सदस्य हैं, वे सब इस सुगन्ध से प्रभावित बन कर परिमार्जित होंगे। कभी-कभी जब जीवन की आन्तरिकता की बातों को मस्तिष्क में लेते हैं तो कई तरह के चित्र विचारों के पटल पर उभर कर आ जाते हैं। चिन्तन जिधर मुड़ता है, उधर ही की बातें स्मृति पटल को ताजा बना देती है। सोचता हूं कि इस चैतन्य देव की बात करता हुआ मैं आन्तरिकता के साथ कुछ गम्भीर बातें कह जाता हूं जो मेरे भाई-बहिनों को समझ में आती है या नहीं कौन जाने? उनकी वर्तमान विचार शक्ति को देखते हुए ऊंची गम्भीर बात को रख देने में कहीं समय और शक्ति का अपव्यय तो नहीं है? मैं इसको अपव्यय नहीं मानता हूं। ये बातें आप भव्यों के लिये ग्राह्य हैं और इनको आप आज नहीं समझेंगे तो कल समझेंगे और समझकर अपने जीवन को पुष्पित बनाने का पुरुषार्थ दिखायेंगे।

समय आ गया है कि इस पुरुषार्थ का परिचय देने में माताएं और बहिनें भी पुरुषों से पीछे नहीं रहें। माताओं का महत्त्व कम नहीं होता है। वे बच्चों को मात्र जन्म ही नहीं देती है, बल्कि उन्हें जीवन के संस्कार देती हैं। बहिनों का महत्त्व पिछले जमाने में कुछ पिछड़ा हुआ रहा और उनके सम्मान के साथ खिलवाड़ किया जाता रहा। लेकिन वह युग बदल गया है और आज के युग में माताओं और बहिनों की आवाज भी पुरुषों की तरह बुलन्द हो रही है। वे आज घर की कठपुतलियां मात्र नहीं रह गई हैं। अब उनकी योग्यता भी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों के सिवाय आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चमकनी चाहिये। एक पुष्पित जीवन चाहे वह पुरुष का हो अथवा नारी का-उसका प्रभाव आस पास के वायुमण्डल में बड़ा व्यापक होता है। एक पुष्पित जीवन से भी संस्कारों की सुगन्ध इस तरह महकती है कि सारा वायुमण्डल पवित्र प्रेरणा का प्रतीक बन जाता है।

मूल का संशोधन

मन से उभरने वाले कुविचार ही व्यवहार में जब ढलते हैं तो वे व्यवहार की रीतियों को भी बिगाड़ते हैं। ये रीतियों जब कुरीतियां बन जाती हैं तो इनमें सारा समाज पिसता है और एक प्रकार का अन्याय पूर्ण वातावरण बन जाता है। नारी जाति के सम्बन्ध में ही एक दृष्टि से विचार करें तो शारीरिक स्थिति को छोड़ कर अधिकांश सारी योग्यताएं नारी में भी पुरुष के समान रही हुई हैं। अपनी आध्यात्मिक पवित्रता की दृष्टि से यदि माताएं अपना कर्तव्य सम्भाल लें और सोच लें कि हमारे जीवन को नहीं पनपने देने वाले जो अशुभ भाव हैं, वे ही उनकी जाति का अपमान कराने वाले हैं-पुरुष जाति तो उसकी निमित्त मात्र है तो वे अपने भावों को शुभता में ढालकर पुरुषों को भी जन्म से ऐसे शुद्ध संस्कार दे सकती हैं जिनसे वातावरण में सुधार आ जावे। यदि पुरुषों में प्रारम्भ से सही संस्कार डाले जायेंगे तो वे नारी जाति का अपमान कैसे कर सकेंगे? लेकिन बच्चा जब गर्भ में था, उस समय में जिन माताओं की भावना कुटिल मलिन और हीन रहती हैं, वैसे ही संस्कार बच्चे में जमते हैं और बड़े होने पर वे ही संस्कार विकृत रूप वाले व्यवहार का निर्माण करते हैं। माता के कुविचार बालक में पनपते हैं और माता तथा बालक के कुविचार कुरीतियों को पैदा करने वाले बन जाते हैं।

शास्त्रकारों ने शास्त्रों में मनुष्य की वृत्तियों का संकेत देते हुए कलालियं गोवालियं आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कन्या के लिये बात बताई तो क्या पुरुष के लिये नहीं बताई? गाय के लिये बताई, वही बैल के लिये भी लागू होती है। इस शास्त्रीय वर्णन पर चिन्तन करेंगे तो ज्ञात होगा कि मानव मन के भीतर जो अपवित्र संस्कार, मलिन भावनाएं तथा दुर्गन्ध युक्त आन्तरिक वृत्तियां होती हैं, उनका बाहरी संयोग के शब्दों साथ बनता है और वह मूल जीवन को प्रभावित करता है। इसलिये मन में उठने वाले कुविचारों तथा उनके आधार पर ढलने वाली कुरीतियों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व नारी जाति पर भी रहा हुआ है। माताएं तीर्थंकरों की भी होती हैं, जिन्हें रत्नकुक्षि धारिणी कहा जाता है। उस प्रकार मूल भाव में व्यष्टि के साथ समष्टि का भी चिन्तन करना होता है, क्योंकि यही चिन्तन कुविचारों के मूल में उतरने का चिन्तन होता है। मूल ही के बिन्दु पर संशोधन हो जाय तो आगे कुरीतियों की और व्यवहार के विकृत बन जाने की कई समस्याएं पैदा ही नहीं हो।

कुरीतियों का तांडव नृत्य

समाज के धरातल पर चारों ओर दृष्टिपात करें तो दिखाई देगा कि मानव मस्तिष्क की रंगभूमि पर सामाजिक कुरीतियों का तांडव नृत्य चल रहा है और यह इस तथ्य का प्रमाण है कि यह मानव जीवन गहन अंधकार में भटक रहा है।

वर्तमान सामाजिक कुरीतियों का वातावरण पुरुष और नारी समाज दोनों के लिये गहराई से विचारणीय है। आज पुरुषों पर जो कुरीतियों तथा कुरुद्वियों का भूत सवार हो रहा है, उसमें नारी वर्ग की भी अपनी जिम्मेदारी अवश्य है। यदि शुरू में ही माताएं इन बातों को दृष्टि में रखती और इनको हटाने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो जाती तो समस्या का इतना विकराल रूप नहीं बनता। सारे समाज को पददलित करने वाला, सामाजिक जीवन को रसातल में पहुंचाने वाला, मानवीय हत्याकांड का रूप धारण करने वाला आज इन कुरीतियों का जो भीषण रूप दिखाई दे रहा है और जिसके पीछे मनुष्य की मति भ्रष्ट हो रही है, उस भीषण रूप से आज जागरुक आत्माओं को कठोर संघर्ष झेलना होगा। सामान्य लोगों की जो दोहरी वृत्ति चल रही है कि एक ओर प्लेटफार्मों पर खड़े होकर सामाजिक सुधारों का भाषण झाड़ते हैं और दूसरी ओर उन सारी कुरीतियों का चलन बनाये रखते हैं, उनकी ऐसी वृत्ति अधिक भीषण हो जाती है। इस कारण ऐसे व्यक्तियों से निपटना ज्यादा कठिन बन जाता है। इन कुरीतियों ने सामान्य गृहस्थों के जीवन को अति संकटपूर्ण बना दिया है।

शादी-ब्याह के लिये मांगनी करना और सारी मर्यादाओं को तोड़ना एक सौदेबाजी का काम बन गया है। लड़का-लड़की देख लेंगे, पसन्दगी हो जायगी, लेकिन बात लेन-देन के मामले पर अड़ जाती है तो कितना बुरा लगता है कि क्या लड़का और लड़की व्यापार की चीजें हैं। पसन्दगी के बाद लड़के वाला लड़की वाले से पूछता है कि कुंवर साहब को क्या देंगे? कुंवर साहब पढ़ रहे हैं, विद्यार्थी हैं तो एक-दो पेन ले लो, और क्या लेना चाहते हो? पेन की कीमत कितनी-सी होती है-यह आप जानते हैं। लेकिन पता नहीं, कुंवर साहब के लिये उनके माता-पिता क्या और कितना चाहते हैं तथा उसकी पूर्ति करने के लिये कन्या के माता-पिता को क्या और कितना कष्ट उठाना पड़ता है?

मैं उड़ीसा में गया था, तब वहां विचरण करते हुए मैंने सुना कि दो भाई आपस में बात कर रहे थे। एक जन कह रहा था कि अमुक महोदय नेता हैं, जगह-2 समाज सुधार के भाषण देते हैं, लेकिन उनके पुत्र के साथ सम्बन्ध करने के लिये कोई जाता है तो वे ऊपर से तो दहेज की भी बात नहीं करते-बस इतना सा कहते हैं कि अपनी बेटी को बिस्कुट दे देना। मैंने उनसे पूछा कि बिस्कुट की भी मांग करनी पड़ती है सो क्या बिना मांगे नाशते में बिस्कुट नहीं परोसते हो? तब उन्होंने हंसकर कहा-महाराज, ये बिस्कुट दूसरे होते हैं। ऐसी बातें कितनी विचित्र दशा में चल रही हैं? यह कुरीतियों का तांडव नृत्य नहीं है तो और क्या है?

ये सामाजिक कुरीति रिवाज विकराल राक्षस का रूप लेकर मानव जाति के सिर पर खड़े हैं, जिससे मानव जाति कुचली जा रही है और उसके पवित्र विचार नष्ट होकर उसका राक्षसी रूप उभर रहा है। यह राक्षस बाहर से मनुष्य का भक्षण कर रहा हो-ऐसा नहीं दिखाई देता लेकिन वह मनुष्य की मनुष्यता का भक्षण करता जा रहा है। इससे कई परिवार उजड़ रहे हैं और समाज में संकटग्रस्तता बढ़ रही है। मानवता, परिवार और समाज का ग्रास करने वाला यह दैत्य अदृश्य रूप से मानव जीवन की पवित्र धाराओं को सुखा रहा है। आप में से किसी को कहे कि पांच रुपये देंगे, एक चींटी को मार दें, लेकिन सम्भव है कोई ऐसी हिंसा करने को तैयार नहीं होगा। परन्तु इन कुरीतियों के चक्कर में मनुष्यों की घात हो रही है, फिर भी क्यों नहीं चेतते हैं? चींटी को मारने का पाप बड़ा है या मनुष्य को मारने का पाप? जिसके मन में चींटी पर दया है, उसको मनुष्य पर तो दया अवश्य आनी चाहिये। ऊपर की हिंसा आपको समझ में क्यों नहीं आती है? यही जीवन के अंधकार में चलने का लक्षण है।

त्रियोग शुद्धि-विचार, उच्चार, आचार

वैसे सामान्य सुसंस्कार वाला व्यक्ति भी छुरा लेकर किसी मनुष्य की जान लेने को तैयार नहीं होगा, बल्कि यह भी सच है कि वह चींटी को मारने के लिये भी तैयार नहीं होगा, लेकिन अन्तःकरण में ऐसे कुविचार और ऐसी दुष्प्रवृत्तियां व्याप्त होंगी कि भीतर ही भीतर आन्तरिक पवित्रता को नष्ट करने वाली कुविचारों की छुरियां चलती रहेगी। ये ही कुविचार जब बाहर फूटते हैं तो कुव्यवहार तथा कुरीतियों के रूप में प्रचलित बन जाते हैं।

चाहे माताएं व्यावहारिक क्षेत्र में पुरुषों को कुछ कह दें लेकिन माताओं को पहले देखना चाहिये कि कहीं कुरीतियों के कुविचार एवं कुसंस्कार उन्हीं के अन्तःकरण में तो बैठे हुए नहीं हैं? बच्चे की शादी हो गई। कन्या पक्ष वालों ने कुछ दिया, कुछ नहीं दिया या कुछ मांगा गया, कुछ नहीं मांगा गया लोकलाज के डर से, लेकिन मन की लालसा दबी नहीं। मन की लालसा कहती है कि थोड़ा प्रकारान्तर से मांगते तो अच्छा रहता, लेकिन अब तो मांगता अच्छा नहीं। जब घर में बीनणी आ गई तो उस लालसा के पीछे कभी अपने को दूर रखकर या कभी नजदीक रखकर किसी न किसी तरह से बीनणी को बहाने बाजी से कष्ट दिया जाता है। इस लालसा का कैसा-2 रूप सामने आता है कि कभी किसी पर घासलेट डालकर जला दिया या बिजली का करेन्ट देकर किसी को मार दिया। कैसे भयंकर कृत्य कर लिये जाते हैं कुरीतियों के कुविचार के पीछे ?

आज भावना तो बताई जाती है कि कुविचार, कुव्यवहार एवं कुरीतियों का त्याग करें और सद्गुणों का विकास करें, लेकिन विडम्बना यही है कि यह भावना व्यवहार में मुश्किल से ही उतरती है। यह मूल में भूल है। इस भूल को सुधारने की आवश्यकता है। मैं सारी बातें किसी व्यक्ति या घटना विशेष की दृष्टि से नहीं बल्कि सहजभाव से कर रहा हूँ, जैसे एक बच्चा सहजभाव से अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों के सामने कोई बात कह देता है। उस नन्हें बालक की तरह मैं भी नाना ही बोल रहा हूँ। प्रत्येक भाई-बहिन इन बातों को सार्वजनिक रूप से लेवें। लेकिन जैसे दीपमालिका के प्रसंग पर मकान के कोने-2 को झाड़पोंछ कर साफ किया जाता है, वैसे ही जीवन के कोने-2 को कुविचारों, कुत्सित वासनाओं और कुरीतियों से स्वच्छ और निर्मल बना डालिये।

कुविचार से सुविचार की ओर

जीवन की भीतरी गुत्थियां सुलझ सकें ऐसे कार्य और आचरण को प्रारम्भ करना चाहिये और इसका यही मार्ग है कि कुविचारों की कठोरता का परित्याग किया जाय तथा सद्विचारपूर्ण सदाशयता की दिशा में चरण आगे बढ़ाए जाय। जब तक मन में कुविचार बना रहता है तो वह कुवचन तथा कुव्यवहार में प्रकट होता ही है तथा कुविचारपूर्ण जीवन की पद्धति कुरीतियों में ही ढलती हैं। वैसी पद्धति में कठोरता जीवन का अंग बन जाती है। मैं सवाई माधोपुर की तरफ गया था तो वहां एक गांव में एक जेठानी और एक देवरानी के बीच में ऐसा मनमुटाव था कि वे तपस्या; धार्मिक क्रियाएं सब करती थीं किन्तु काफी प्रयास के बाद भी परस्पर की कठोरता को वे नहीं त्याग सकीं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी कुविचारों तथा कुरीतियों की प्रबलता रहती है, उतनी ही जीवन में कठोरता और कुत्सितता काम करती है। इसलिये कुरीतियों को छोड़िये और सद्विचार लाकर सदाशयी बनिये। इस परिवर्तन से ही व्यक्ति के जीवन में और समाज में नई सुधारक रीतियों का प्रचलन किया जा सकेगा तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पवित्रता का वातावरण बनाया जा सकेगा। असद् से सद् की ओर असत्य से सत्य की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ें।

15-10-77

१११

10. आत्म-चिकित्सा

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी.....

मानव जीवन का महत्वपूर्ण स्थल अपना आन्तरिक जगत् होता है। यह पवित्र शीतल सरोवर के समान होता है। इस सरोवर में जिसने अवगाहन नहीं किया है, उसके जीवन की अनेकानेक समस्याएं विविध जटिलताएं धारण करके सामने आती रहती हैं। सच कहें तो अपने ही आन्तरिक जगत् से अनजान रहने वाले व्यक्ति का समूचा जीवन ही एक दृष्टि से समस्याओं का पुतला बना हुआ रहता है।

इन समस्याओं का प्रादुर्भाव कहां से होता है, कौनसी समस्याएं किन-2 तत्वों से सम्बन्धित होती हैं तथा किन-2 समस्याओं का समाधान किस-2 प्रकार की विधि से किया जा सकता है-इन सब प्रश्नों का विश्लेषण वह व्यक्ति नहीं कर पाता है, जो मात्र बाहर के जगत् में भटकता फिरता है। उसके जीवन में कामनाओं की विचित्र-2 तरंगें, आशाओं तथा अभिलाषाओं के तूफान तथा तृष्णा के झंझावात इस वेग से चलते रहते हैं कि उसको अपने आन्तरिक जगत् की ओर मुख करना भी मुश्किल हो जाता है। एक प्रकार से उस जीवन में ऐसे वातचक्र उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें उलझकर वह सदा आशंकित और पीड़ित बना रहता है। इन्हीं वातचक्रों को ग्रंथि और शूल का नाम दिया गया है याने कि गांठें और कांटे। एक डोरे में अगर जगह-2 गांठें कस जायं तो उस डोरे का बिना गांठे खोले क्या उपयोग रह जाता है और उन गांठों को खोलना कोई आसान कार्य थोड़े ही होता है? वैसे ही जहां अनेक प्रकार के शूल गड़ जाते हैं, वे शूल भी आसानी से नहीं निकलते हैं। गड़े हुए शूलों की पीड़ा अलग ही होती है। इस प्रकार ग्रंथियां और शूल इस आत्मा के लिये अनेक प्रकार के रोगों के वाहक बन जाते हैं। वह आत्मा रोगिणी हो जाती है, जिसकी बिना समुचित चिकित्सा किये उसका स्वस्थ हो सकना कठिन होता है।

कामनाओं-वासनाओं की उड़ान पतन का कारण:

उद्दाम कामना और तृष्णा से घिरा हुआ मानव का मन बड़ी-2 उड़ानें भरता है जैसे कि फव्वारे से जल कण बहुत ऊंचाई तक ऊपर उछलते हैं। लेकिन वे काफी ऊपर तक जाने वाले जलकण ऊपर से ऊपर नहीं जाते हैं, बल्कि वहां से फिर नीचे ही गिरते हैं। जब वे आकाश की तरफ उछलते हैं तो प्रारम्भ में ऐसा ज्ञात होता है कि ये ऊपर से ऊपर चढ़ते हुए आकाश को छू लेंगे, लेकिन एक सीमित ऊंचाई तक जाकर ही वे पुनः धरती पर आ गिरते हैं। वैसे ही मन की कामनाओं और वासनाओं के फव्वारे कितने वेग से इधर-उधर उड़ते हैं, किन्तु वे कल्पनाओं के घोड़े जल्दी ही कठोर धरती पर गिर पड़ते हैं। इससे मानव मस्तिष्क में बड़ी-2 उलझनें घर करके बैठ जाती हैं और वे मनुष्य के जीवन को पथ विहीन एवं दिशा विहीन बनाने लगती हैं।

किंकर्तव्यविमूढ़ सा बन तब मनुष्य सोचता है कि क्या करूं? वह सही मार्ग की तरफ बढ़ना चाहता है-अपने कदम उस ओर मोड़ता है लेकिन काम बनता नहीं है क्योंकि मन का सन्तुलन नहीं बैठता है। कोई काम करता भी है और सोचता है कि अभीष्ट फल की सिद्धि होने वाली है, लेकिन वास्तव में फल की प्राप्ति होती नहीं है। तब वह हताश सा होता है और विचार में पड़ जाता है कि किन कारणों से कौन-कौन सी बाधाएं उसके मार्ग को रोक लेती हैं? सही कारणों का पता नहीं लगा सकने के कारण उसके मन में आता है कि उसकी ग्रह दशा अशुभ चल रही है। यह सोचकर वह ग्रह शान्ति आदि के लिये ज्योतिष शास्त्र के जानकारों के पास जाता है और अपनी जन्म कुंडली के आधार पर फलादेश प्राप्त करने की चेष्टा करता है। ज्योतिषी भी उसके मन का समाधान शनि या राहु की खराब दशा बताकर कर देते हैं लेकिन उससे क्या होता है? उस निराशा में वह न जानें कहां-2 भटकता है और किन-2 देवालयों को धो गता है? वह चारों ओर अपनी समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करता है लेकिन क्या सही कारणों की खोज किये और उन्हें मिटाये बिना वह सन्तोषजनक समाधान पा सकता है?

जितनी ज्यादा उलझनों में वह उलझता है, उतना ही ज्यादा उसका भटकाव बढ़ जाता है और परिणाम कुछ भी प्राप्त नहीं होता। आप जानते हैं कि सूत की कूकड़ी को बेतरकीब से जितनी ज्यादा घुमाई जाती है, वह उतनी ही ज्यादा से ज्यादा उलझती जाती है और वैसी दशा में उसकी उलझनों को निकाल पाना भी उतना ही ज्यादा कठिन होता जाता है। ज्यादा बारीक उलझनें होती हैं तो पल-2 पर उस सूत के टूट जाने का खतरा बना रहता है। सीधे सूत में कितनी गांठें इन उलझनों से पड़ जाती हैं-उसका तो कोई हिसाब ही नहीं रहता। लेकिन जैसे इन उलझनों को सुलझाये और गांठों को खोले बिना सूत या डोरे का उपयोग नहीं हो सकता है, वैसे ही आत्मा भी अपने मन की

उलझनों को मिटाये बिना-गांठों को खोले बिना और कांटों को निकाले बिना पवित्र जगत् में विचरण नहीं कर सकती हैं।

आत्मा की उलझनें, गांठें और कांटे इसीलिये हैं कि उसका मन कामनाओं और वासनाओं के चक्रवात में घूमता और उलझता रहता है। मन ऊंची-2 उड़ानें भरता है लेकिन फिर से कठोर धरती पर गिर कर क्षत-विक्षत होता रहता है। ऐसी यह मन की विगति होती है। इस गति की दिशा को बदलने और उसे प्रगति की ओर ले जाने पर ही जीवन में नया परिवर्तन आ सकता है।

उच्छृंखल विचार आत्मा का शूलः

सोचते-2 मनुष्य इस विचार बिन्दु पर आकर टिकता है कि वर्तमान की विशृंखल अवस्था का कारण पूर्व कर्मों के फल का उदय हो सकता है। वह यह भी मानता है कि ये उलझनें पहले उसने अपने ही अमुक-2 कार्य से पैदा की हैं और उनको वह अब विवेक एवं पुरुषार्थ के बल पर ही मिटा सकता है। तब वह उन आन्तरिक ग्रंथियों को समझने की चेष्टा करता है और वर्तमान की असफलता के कारणों की खोज करने लगता है।

इस ग्रन्थि या गांठ का तात्पर्य आप अपनी आंतरिक अवस्था से लें। भीतर के विचारों की प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रसंगों से आपस में उलझ कर मानस में भावनात्मक रूप से तनाव पाकर ग्रन्थि या गांठ बन जाती है। ये ग्रन्थियां तनाव से कसती जाती हैं और कई बार भयावह रूप धारण कर लेती हैं। इन भयावह ग्रंथियों को सुलझाने के लिये महावीर प्रभु ने संकेत दिया है।

दंडाणं गाखाणं य सल्लाणं य लियं तियं।

जे भिक्खू चटाइ निच्चं से न अच्छई मंडले ॥

शास्त्रकारों ने जिस शल्य का उल्लेख किया है, उसकी उपमा शूल से दी गई है। जैसे शरीर में शूल के चुभने की पीड़ा होती है, उससे कई गुनी पीड़ा तब होती है, जब मन में शूल चुभता है। पेट में जब शूल चलता है तो बड़ी असह्य पीड़ा होती है। शूल की पीड़ा के समय चैन नहीं पड़ता। इस पीड़ा के समय कोई कहे कि अमुक काम करो तो क्या उसका उस काम में मन लग सकता है? जब तक पीड़ा शान्त नहीं होती, वह बेचैन रहता है। जिस तरह उदर शूल की पीड़ा से बेचैनी होती है, वैसे ही आत्मा के शूलों से अपार पीड़ा होती है और उससे मन अस्त व्यस्त रहता है। यह शूल स्वयं के स्वयं चुभाता है और उस वक्त वह व्यक्ति अपनी भूल को भूल के रूप में देख पाने में भी असमर्थ रहता है। उस असमर्थता में वह उसके कारणों का भी निदान नहीं कर पाता है कि यह शूल कैसे चुभी और उसको वह कैसे निकाले?

ग्रंथियों तथा शूलों के कारण तथा निवारण के उपाय-

व्यक्ति अपने गुप्त दोषों से अथवा गुप्त मनोवृत्ति से अपराध कर लेता है। उस समय अन्दर से सोचता है कि अपराध करें तो क्या है, कोई देखने वाला तो है ही नहीं-मेरे अन्दर की बात कौन जानेगा? भगवान् जानें तो जानें, लेकिन भगवान् हमारे सामने तो है नहीं, और वे किसी को बतायेंगे नहीं, फिर क्या डर हैं? इस प्रकार जहां पाप कार्य से बचना चाहिये या जानते अजानते पाप हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धि कर लेनी चाहिए, वहां पर पाप कर्म को पाप समझकर भी गुप्त रूप से इस विचार के साथ कोई करे कि वह छिपा हुआ रह जायगा और दुनियां में अपना अच्छापन भी बना हुआ रह जायगा तो ऐसी गोपनीयता और उसके खुल जाने के भय से मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण हो जाता है। उसकी दुराव की बुद्धि छल से बन्ध जाती है। वह ऊपर से ऐसा व्यवहार बताता है जिससे कि उसका अपराध या दोष किसी के सामने नहीं आवे और उसकी बाहर की प्रतिष्ठा को आंच नहीं लगे। ऐसी भावना और ऐसे व्यवहार से मानव कभी बहुत बड़ी भूल कर लेता है कि वह अपराध या दोष भीतर ही भीतर दबता हुआ एक प्रकार

से मानसिक कैंसर का रूप पकड़ लेता है। ऐसी ही ग्रन्थि अथवा ऐसा शूल जीवन भर पीड़ा देता रहता है जब तक कि विवेकपूर्वक उससे छुटकारा नहीं पा लिया जावे।

यदि विवेक और पुरुषार्थ के बल से उस ग्रन्थि या शूल का निवारण कर लिया जाय तो मन मस्तिष्क की शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिये अशान्ति के कारणों को खोजकर उनके निवारण के उपाय किये जाने चाहिये। शान्ति प्राप्त नहीं होने का कारण यह होता है कि प्रतिक्षण मन गुप्त पापों के कारण आशंकित बना रहता है और उस आशंका से मन की एकाग्रता नहीं बन पाती है। कोई बात उसको यदि नहीं रहती तथा किसी काम में उसका मन नहीं लगता। कई बार ऐसा व्यक्ति हताशा के कारण निष्क्रिय हो जाता है तथा होनहार या भाग्य के भरोसे टिक जाता है। चूंकि उसकी क्रिया शक्ति दिशाहीन होकर शिथिल हो जाती है अतः वह होनहार की बात करने लग जाता है। लेकिन ध्यान रखिये कि वीतराग देवों की पवित्र वाणी के सामने होनहार जैसी कोई भी बात नहीं होती है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि अपने आपको वीतराग वाणी के पुजारी समझने वाले भी मिथ्या और अन्ध-विश्वासों में भटक जाते हैं। वे अपने आपको शास्त्रों के ज्ञाता घोषित करते हैं और उनसे पूछा जाय कि क्या होनहार कोई तत्त्व होता है तो वे ऊपर की ओर देखने लग जाते हैं और उत्तर दे देते हैं कि यह ऐसा ही था, इसलिये ऐसा हुआ। ऐसा नहीं होता तो यह नहीं होता। सही उत्तर वे इसलिये नहीं दे पाते कि उन्होंने शास्त्रों के मर्म को नहीं समझा और अपने भीतर देखने की क्षमता उत्पन्न नहीं की। वे भीतर देखें तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि यह होनहार नाम का तत्त्व वीतराग वाणी में नहीं है।

वीतराग वाणी में तो आत्मा की ग्रन्थियों और शूलों का वर्णन है जिनको स्वयं आत्मा ही पैदा करती है एवं उनसे उत्पन्न फलाफल का अनुभव करती है: होनहार कुछ नहीं, यह सब आत्म का अपना ही निर्माण होता है। इसी कारण ग्रन्थियों तथा शूलों के कारणों का उल्लेख किया गया है एवं इनके निवारण के उपाय बताये गये हैं जिनको गहराई से समझने की आवश्यकता है।

आत्मा की चिकित्सा-

वीतराग देव ने कुल नौ तत्त्व बताये हैं और वे ही वास्तविक तत्त्व हैं जिनमें जीव-अजीव तत्त्वों के विश्लेषण से लेकर जीव की अजीव से मुक्ति का उल्लेख है। सारे संसार के सभी तत्त्वों का समावेश इन नौ तत्त्वों में हो जाता है। मूल में जीव और अजीव या चेतन और जड़ दो ही तत्त्व हैं। दार्शनिक दृष्टि से अलग-2 दर्शनकारों ने इन्हीं दोनों तत्त्वों को अलग-2 नामों से स्वीकार किया है। किन्हीं ने प्रकृति और पुरुष कहा तो किसी ने ब्रह्म और माया के नामों की संज्ञा दी। इन्ही दोनों तत्त्वों की संयुक्त अवस्था में इस सम्पूर्ण संसार की संरचना है तथा कर्मों याने जड़ के बन्धनों से जब पूर्णतया जीव छूट जाता है तो वह मोक्ष में चला जाता है याने कि सदा काल के लिये वह अपने परम विशुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही आत्मा की पूर्ण चिकित्सा अथवा पूर्ण स्वास्थ्य की उपलब्धि है।

नौ तत्त्वों से परे हट कर जो होनहार को महत्त्व देते हैं, वे एक प्रकार से जड़वाद की स्थिति को पकड़ते हैं तथा आत्मा के रोगों को बढ़ाते हैं। इसलिये भगवान् समाहित करते हुए कहते हैं कि यह निकाचित बन्ध परिणाम है। होनहार का विश्लेषण कर सकते हैं- उपयोग या प्रयोग कर सकते हैं लेकिन यह जीवात्मा के सिर पर नहीं बैठ सकता है। यह मनुष्य के सिर पर बहुत बड़ा चक्कर होकर घूम रहा है। उसका मन उलझन की तरफ जागरूक होकर उसको सुलझाने के लिये बढ़ता है लेकिन होनहार का चक्कर सामने आ जाता है वह उस प्रयास को वहीं छोड़ देता है। इस बात का भी उसको साहस नहीं होता कि अपनी आत्मा में चुभी हुई शूलों को निकालकर फेंक दूं। यदि व्यक्ति अपना अन्वेषण करके चुभी हुई शूलों को निकाल फेंकता है। तो मानसिक स्तर पर लगे हुए घातक रोगों का अन्त आ जाता है।

शरीर की चिकित्सा के लिये वैज्ञानिक लोग अथक प्रयास कर रहे हैं, लेकिन सच्चे वैज्ञानिक वे ही हैं जो आत्मा की चिकित्सा के लिये अटूट पुरुषार्थ करते हैं। आत्मा की चिकित्सा आसानी से नहीं होती है। शरीर तो जड़ तत्त्व है

फिर भी उसके सभी रोगों के निदान, परीक्षा एवं निवारण का सामर्थ्य अभी तक मनुष्य पैदा नहीं कर सका है। फिर आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्व को समझना, उसके रोगों का निदान करना तथा उन रोगों की चिकित्सा करना गहरे विवेक और पुरुषार्थ का काम होता है।

सभी रोगों का मूल भीतरी ग्रन्थियां:

सच बात तो यह है कि बाहर की और शरीर की सभी बीमारियों की जड़ में प्रायः मानसिक रोग ही होते हैं। यह मन कैसी-कैसी बीमारियां पैदा कर लेता है-इसका बहुत बड़ा विज्ञान है। यह सारी प्रक्रिया एक अलग ही प्रकार की होती है। उस तथ्य को अब डॉक्टर भी स्वीकार करते हैं कि किस प्रकार मन की तरह-2 की ग्रन्थियां शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं पर अपना असर डालती हैं और उस असर से इस शरीर में तरह-2 के रोग किस प्रकार पैदा होते हैं।

इसलिये सभी रोगों के मूल में जो भीतर की ग्रन्थियां तथा शूल होते हैं, उनको भली प्रकार समझने की आवश्यकता है। यदि आपको प्रयास करने पर भी शुभ कार्यों में वांछित सफलता नहीं मिलती है तो उसके विषय में अपने भीतर में खोज करनी चाहिये। संशय को दूर करके वीतराग प्रभु की वाणी को आत्मसात् करनी चाहिये। अन्दर का मवाद जब दिल खोलकर बाहर बह जाता है तभी अन्दर की पीड़ा समाप्त होती है और अन्दर की पीड़ा हटने पर बाहर के रोग भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे पके हुए फोड़े के अन्दर का सारा मवाद जब बाहर निकाल दिया जाता है तभी दर्द से चैन मिलता है, उसी प्रकार मन की ग्रन्थियां टूटती हैं और मन के शूल निकाल दिये जाते हैं तभी आत्मा को सच्ची शांति प्राप्त हो सकती है।

जब तक ग्रन्थियों का तनाव रहता है और शूलों से दर्द उठता है, तब तक व्यक्ति के मन में अशान्ति बनी रहती है। उसके मन में विविध प्रकार की कल्पनाएं और आशंकाएं उठती रहती हैं जिनके कारण कई बार अनिद्रा, रक्तचाप और हृदय रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिये भीतर की ग्रन्थियों और शूलों का पहले निवारण जरूरी माना गया है।

शूल हटे तो फूल बिछे-

शूल या शल्य के विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि-

माया सल्लं नियाण सल्लं, मिच्छा-दंसण सल्लं।

अर्थात् शल्य तीन प्रकार के बताये गये हैं। एक माया शल्य, दूसरा निदान शल्य और तीसरा मिथ्या दर्शन शल्य। माया शल्य याने अन्दर ही अन्दर छल करना और उसको दूसरों से छिपाकर रखना। आधुनिक युग के परिवेश में यदि इसका नामकरण किया जाय तो उसे कहेंगे कूटनीति-कहें कुछ और एवं करें कुछ और। अपनी भाषा में जिसको व्यंग से आप पोलिटि कल्पना कहते हैं। यह कूटनीति और माया आध्यात्मिक जगत् की विरोधिनी होती है। यह एक बाधा है जिसे हटाये बिना जीवन की स्वस्थ गति नहीं बन पाती है।

कभी कोई सोच लेता है कि इस संसार के अन्दर पापाचार बहुत बढ़ गया है और वह उसको मिटाने की कोशिश करना चाहता है, लेकिन उसकी कोशिशें कामयाब नहीं होती हैं। कारण वह अपने ही पापों को पहले नहीं देखता और उनको पहले नहीं मिटाता। व्यक्ति अपने पापों को मिटाले तथा अपनी आत्मा के शूलों को हटा ले तो निश्चय मानिये कि उसके जीवन में सद्गुणों के फूल बिछ जायेंगे तथा उन फूलों की महक सारे समाज और संसार में भी फैलेगी।

एक बहुत बड़ा राजा अपने सिंहासन पर बैठकर न्याय कार्य किया करता था। उसका खुला आह्वान था कि जिस किसी की कोई समस्या हो, वह इन्साफ के लिये उसके सामने रखी जाय। एक समय एक पुरुष उसके पास पहुंचा और बोला-यह सारा संसार कांटों से भरा हुआ है-जिधर देखें उधर कांटे ही कांटे बिछे हुए हैं। मेरी समस्या है कि ऐसे में मैं अपने पैर कहां रखूं और कैसे चलूं? आप इन सारे कांटों को हटवाइये। राजा बड़ा चतुर था, उसने अपने विद्वानों को एकत्रित किया और उनके सामने यह समस्या रखी। एक ने कहा कि सारी पृथ्वी को चमड़े से मढ़ा दें ताकि सारे

कांटे दब जाय और लोग बे खटके चल सकें। सबने उसकी बात का समर्थन किया। वहीं द्वारपाल दरवाजे पर बैठा हुआ था। यह बात सुनकर उसको हंसी आई कि इन विद्वानों के विचारने का यह क्या हाल है? उसने साहस जुटा कर नम्रतापूर्वक कहा-राजन्, यदि आप आज्ञा दें तो एक सुझाव पेश करूं। सभी उसकी ओर देखने लगे। राजा ने कहा-कहो। उसने कहा-सारी पृथ्वी को चमड़े से मढ़ना तो एकदम असंभव लगता है। क्यों नहीं चलने वाला ही अपने पैरों को चमड़े में मढ़ ले ताकि वह कांटों से बच सके।

यह तो एक रूपक है। इसको अपनी आन्तरिक स्थिति पर लागू करें। शूल सारे जगत् में हैं और अपने मन में भी है। यदि जगत् के शूल देखने का कम यत्न किया जाय और मन के शूल निकालने का अधिक तो जीवन में हल्कापन उभर कर आ जायगा। जीवन में प्रगति और पवित्रता के लक्षण प्रकट होने लगेंगे। सारा आवेग, सारी उद्धिभ्रता और समस्याओं का सन्ताप घटता हुआ चला जायगा। वह प्रसंग आज के लिये सर्वथा उपयुक्त है कि चिंतन के साथ इस दिशा में कदम बढ़ाये जावें। जीवन में से शूल हटेंगे, तभी सद्गुणों के फूल बिछ सकेंगे।

आत्म समीक्षण-

आप अपने घट के भीतर देखिये-आत्मा का अवलोकन कीजिये और उसका रोग निवारण करके उसको स्वस्थ बनाइये। घट को देखेंगे तो उसके पट पर आपको कई तरह के कांटे दिखाई देंगे। उन कांटों को ज्यों-2 निकालते जायेंगे, आत्मा की चिकित्सा होती जायगी और आप शांति का अनुभव करने लगेंगे।

जैसे बाहर के कांटे अलग-2 तरह के होते हैं, वैसे ही भीतरी कांटों का रूप भी कई प्रकार का होता है। आपके रेगिस्तान में ही भुरट नाम का एक विचित्र कांटा होता है जिसकी परत सी बिछी रहती है और वो जब लगता है तो समूह में लगता है। अलग-2 प्रदेशों में इसी प्रकार तरह-2 के कांटे होते हैं। जैसे इन कांटों को यत्नपूर्वक निकालते हैं, वैसे ही पूरे विवेक एवं यत्न से भीतर के कांटों को निकालने का अभ्यास बनाइये ताकि धीरे-2 सभी कांटों को निकाल दिया जा सके और फिर नये कांटों से पूरी तरह से बचा जा सके। यही शल्यरहित होने की विधि है।

आत्मा को शल्य और शूलरहित बनाने की विधि बताने के लिये सब जन सदा तत्पर रहते हैं। आप उनके उपदेशों को जीवन में उतारें और दिन रात में कम से कम एक घण्टा भी आत्म-चिन्तन में लगावें तो आत्मशुद्धि का धीरे-2 ही सही-कार्य बन सकता है। कई भाई समय की शिकायत करते हैं, लेकिन अविवेकपूर्ण कार्यों में वे कितना ही समय बिगाड़ देते हैं और आत्म शुद्धि के कार्य में समय नहीं मिलने की बात करते हैं तो यह समुचित नहीं है। आत्मा को ग्रन्थिहीन और शूलहीन बनाना-यह सर्वोच्च प्राथमिकता वाला कार्य है, इसमें सबसे पहले अपनी सारी शक्ति और सारा समय नियोजित करना चाहिये। सही काम के लिये फुर्सत नहीं निकालेंगे तो क्या अनर्थ नहीं होता रहेगा? बहिर्न अग्र गेहूं, चावल आदि को ठीक से चुगने की फुर्सत नहीं निकालें तो कितने जीवित या मृत जन्तु, कंकर, कचरा या बाल बगैरा पेट में चले जायेंगे और शरीर को बिगाड़ देंगे? स्वास्थ्य रक्षा का कार्य प्रमुख होता है और विवेक से होता है।

फिर आत्मा के स्वास्थ्य की रक्षा का कार्य तो अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। सन्तजन आपके मन की परख करके आत्म-स्वास्थ्य की परीक्षा करते रहते हैं व औषधियों का निर्देश देते रहते हैं। आवश्यकता है कि आप उन औषधियों को ग्रहण करके अपनी आत्मा को स्वस्थ याने अपने में ही स्थित बनावें।

आत्म-स्वस्थता-

अन्दर की गुत्थियों को सुलझा कर तथा शूलों को निकाल कर अगर आत्मा का स्वास्थ्य प्राप्त कर लिया जाता है तो व्यक्ति बाहर से भी पूर्णतया स्वस्थ रहता है क्योंकि वैसी अवस्था में व्यक्ति को पूरी तरह से निजत्व का भान हो जाता है। जागृत आन्तरिकता के साथ वह बाहर के प्रत्येक प्रकार के वातावरण की परीक्षा करता है और उसमें समुचित

संशोधन लाने का प्रयास करता है, चाहे वह आर्थिक या राजनैतिक वातावरण हो अथवा सामाजिक या आध्यात्मिक वातावरण। प्रत्येक स्थान पर वह आत्मार्थी बन कर परोपकारी बन जाता है। धीरे-2 अपने व्यक्तित्व को भी लोक कल्याण में समर्पित कर देता है।

वह इन समस्याओं पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित कर देगा तथा सफलता की अनुभूति प्राप्त करेगा कि स्वयं का और अन्य भव्य प्राणियों का आध्यात्मिक जीवन किस प्रकार समुन्नत बनाया जा सकता है, सबकी सुमति को कैसे जागृत बनावें तथा जीवन की समग्र समस्याओं का सहृदयतापूर्वक क्या समाधान निकालें? इस प्रकार के भाव और प्रयास से आत्मा की सहजिक या प्राकृतिक चिकित्सा हो सकेगी। जैसी शरीर की प्राकृतिक चिकित्सा का क्रम होता है, वैसे ही आत्मा को उसकी मूल प्रकृति से मिला देने का भी साधना क्रम होता है। इस साधना क्रम से जो चलता है, उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती है। आत्मीय भावना का अन्दर विकास होता है तो वही बाहर प्रकट होकर सब को अपने स्नेहमय सूत्र में बांध लेती है और तब अन्दर बाहर सभी ओर सुस्वास्थ्य दिखाई दे सकता है।

आत्मीय भावना आत्मा का श्रेष्ठ स्वास्थ्य-

यह संकल्प करें कि प्रत्येक के साथ आत्मीय भावना से व्यवहार किया जायगा। यह लक्ष्य बनना चाहिये कि परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के सभी प्राणियों के साथ उन्हें आत्मवत् समझ कर सहयोग की वृत्ति रहे कदाचित् ऐसी परिस्थिति हो कि किसी को असाध्य और छुआछूत रोग है तो उससे उसको सुधारने की दृष्टि से परहेज भी किया जाय-यह विधि और प्रेम की बात ही होगी। कारण आत्मवत् सर्वभूतेषु का अभिप्राय सबसे सहयोग और सबका उत्थान ही होता है। आत्मीय भावना का विकास ही आत्मा का सर्वश्रेष्ठ स्वास्थ्य कहलाता है। स्वस्थ आत्मा सर्वप्रिय बनती है।

प्रभु महावीर ने जगत् की प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य मानने का निर्देश दिया है और साधकों के साथ एकीभूत हो जाने का, लेकिन शरीर साधु का हो और आत्मा असाधु की ती उसके परिमार्जन के उपाय करो-साधुत्व को कलंकित न होने दो। सभी की आत्मशुद्धि के लक्ष्य को सदा अपने सामने रखो और आत्मीयता से उसे प्राप्त करो।

१११

11. आत्मोन्मुखी वृत्ति अध्यात्म है

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी.....

किसी भी अर्थ को समझने के लिये माध्यम शब्द को ही लेना पड़ता है। यह शब्द वर्णमालात्मक होता है। वर्णों के जो अलग-अलग समूह होते हैं, वे ही शब्द हैं। अलग-2 अर्थों व अलग-2 प्रवृत्तियों के लिये अलग-अलग शब्द होते हैं। भाषाएं भी कई प्रकार की होती हैं। इन्हीं शब्दों के रूप में संस्कृत और शुद्ध हिन्दी की दृष्टि से आत्मा की आंतरिक शक्ति को जागृत करने का प्रतीक शब्द है अध्यात्म अर्थात् के अधि होना-आत्मोन्मुखी बनना। जो ज्ञान, जो भाव और जो विचार की ओर गति कराता है उसे आध्यात्मिकता कहते हैं। संक्षेप में आत्मोन्मुखी वृत्ति है, वही अध्यात्म है।

अध्यात्म शब्द की संस्कृत भाषा की दृष्टि से व्युत्पत्ति होती है- आत्मानि अधि इति अध्यात्मः आत्मा के भीतर में जो होता है उसको समझना और देखना अध्यात्म है। इस शरीर के अन्दर जो भी प्रक्रियाएं बन रही हैं, उनमें मन की प्रक्रियाएं मुख्य होती हैं और इन प्रक्रियाओं का सीधा सम्बन्ध आन्तरिकता से जुड़ा हुआ होता है। वस्तुतः शरीर की बाहरी प्रक्रियाएं आन्तरिक प्रक्रियाओं के प्रतिफल के रूप में ही प्रकट होती हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि आन्तरिक प्रक्रियाओं के प्रकट होने का मार्ग बाहरी प्रक्रियाओं का होता है। अतः सभी प्रकार की प्रक्रियाओं के मूल में पहुंचने का नाम अध्यात्म है। आत्मा के अधि होते हैं, तभी जीवन के मूल स्रोत तक पहुंच सकते हैं।

बाहरी एवं आंतरिक प्रक्रियाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

बाहर एवं आंतरिक प्रक्रियाओं का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। वे प्रक्रियाएं एक-दूसरी को प्रभावित किये बिना नहीं रहती हैं। बाहर जो कुछ किया जायगा, उसका प्रभाव आन्तरिक विचारों पर पड़ेगा तो आंतरिक विचारणा का प्रभाव भी बाहरी प्रक्रियाओं पर अवश्य पड़ेगा। जैसे यह दीवार घड़ी लगी हुई है। बाहर के हिस्से में इसकी कोई प्रक्रिया मालूम नहीं हो रही है। सिर्फ दोनों कांटे बहुत धीमी गति से सरकते रहते हैं और ये कांटे जिन-जिन अंकों पर पहुंचते हैं, उनसे समय का पता चलता है। बाहर का डायल और कांच दोनों स्थिर हैं। लेकिन दोनों कांटे जिस गति से घूमते हैं, उनको घुमाने वाले यन्त्र इस डायल के पीछे रहे हुए हैं जो दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। भीतर में प्रत्येक पुर्जे में कुछ न कुछ चाबी के जरिये हलचल होती रहती हैं और उसी हलचल की एकरूपता के कारण ये बाहर के कांटे घूमते हैं और समय की जानकारी देते हैं।

जैसे इस घड़ी के कांटों की स्थिति है, एक तरह से उसी रूप में इस मानव शरीर के बाहर से हाथ और पैर चल रहे हैं, नेत्र टिमटिमा रहे हैं, नाक अपने विषय में सक्रिय है, जिह्वा अपना कार्य कर रही है तथा त्वचा की शक्ति भी सावधान है। यह घड़ी की तरह आत्मा का बाह्य डायल है। घड़ी का रूपक एक देशीय है। लेकिन घड़ी की भीतरी प्रक्रिया से कई गुनी प्रक्रियाएं इस शरीर के भीतर में आत्म शक्ति के माध्यम से हो रही हैं और उन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर शरीर की बाहरी प्रक्रियाएं दृष्टिगत होती हैं। घड़ी का रूपक तो इसलिये दिया गया है, कि उसके उदाहरण से शरीर की बाहरी व उनके साथ भीतरी प्रक्रियाओं के विषय को समझा जा सके। शरीर के मात्र बाहरी अवयवों तथा उसकी बाहरी हलचल पर ही मुग्ध होकर यह न समझ लिया जाय कि उनके आगे कोई भीतरी दुनिया है ही नहीं। बाहर की त्वचा अथवा चमड़ी अगर गोरी है तो उससे यह न समझ लें कि उसकी भीतरी अवस्था भी गोरी या उज्वल है। बाहर की काली चमड़ी वाले की आन्तरिकता भी काली होती है-ऐसा नहीं है। काले शरीर में भी उज्वल आत्मा रह सकती है तथा गोरे शरीर में भी काली आत्मा हो सकती है।

यह अन्दर का विषय एक पृथक् और गम्भीर विषय होता है। लेकिन अन्दर की और बाहर की प्रक्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध अवश्य रहता है और बाहर की प्रक्रियाओं से अन्दर की तथा अन्दर की प्रक्रियाओं से बाहर की प्रक्रियाओं का अनुमान लगा पाना अवश्य सम्भव होता है क्योंकि किसी मायावी व्यक्ति के जीवन में भी दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरी से प्रभावित दिखाई देती हैं। फिर भी मूल में अन्दर की या आत्मा की प्रक्रियाएं होती हैं जो जीवन संचालन की मूलाधार प्रक्रियाएं हैं। कभी-2 बाहरी प्रक्रियाएं जब अधिक शक्तिशाली बन कर अन्दर की प्रक्रियाओं पर हावी हो जाती हैं तो वे आत्मा के स्वरूप को बिगाड़ती हैं। आत्मा उज्वल उसी दशा में बनती है, जब भीतर की प्रक्रियाएं पुष्ट बन कर ज्ञान और विवेक के धरातल पर बाहर की प्रक्रियाओं को संचालित करती है। किसी भी रूप में अन्दर की और बाहर की प्रक्रियाएं परस्पर में गम्भीरता पूर्वक सम्बद्ध रहती हैं।

आत्म उज्वलता कैसे बने ?

आत्मा मैली क्यों होती है तथा उज्वल कैसे बनती है? आत्मा काली भी बनती है और गोरी भी बनती है-इसका क्या कारण है? कारण स्पष्ट है कि जिन अनादिकाल के कर्मों का सम्पर्क इस आत्मा ने पा लिया है, उन कर्मों की

कालिमा से वह रंगी हुई हैं। जब तक इस रंग को यह आत्मा अपने से भिन्न नहीं समझेगी, तब तक इस रंग के साथ ही यह एकमेक होकर रहती है और यही सोचती है कि यह रंग मेरा है और मैं इस रंग में रंगी हुई हूँ। लेकिन जिस रंग के सन्दर्भ में यह अपने स्वरूप को मानती है, हकीकत में इसका स्वरूप वैसा नहीं है। क्योंकि जो रंग आज उसके लगा हुआ है, वह रंग उसका अपना नहीं है। यह रंग तो उन कर्म पुद्गलों का है जो आत्मा के साथ लगे हुए हैं। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श-यह पुद्गल का धर्म होता है इन पुद्गलों के जो लाल, काले, पीले, धोले आदि रंग होते हैं, वे आत्मा के रंग नहीं होते हैं। यही विडम्बना है कि इन रंगों को इस आत्मा ने अपने रंग मान लिये हैं तथा ऐसा मान कर वह इस जीवन में चल रही है और उस मान्यता के अनुरूप कार्य कर रही है। उसका ध्यान यह रहता है कि कहीं मेरा आज का रूप-रंग बिगड़ न जाय और इस ध्यान के साथ वह वैसे ही कर्म करती है। इसलिये कहा जाता है कि आत्मा का जैसा कर्म होता है, वह वैसे ही कार्य करती रहती हैं।

लेकिन इस प्रक्रिया को और इस मान्यता को बदलने की जरूरत है तथा वैसे शुभ परिवर्तन के लिये वीतराग देवों ने स्पष्ट मार्ग का निर्देश किया है। उन्होंने बताया है कि जैसा कर्म है, वैसा ही तुम्हारा कार्य है-यह नहीं कहना। आत्मा यह चिन्तन करे कि जैसे कर्म है, उनके अनुरूप मैं अपने कार्य को सम्पादित नहीं करूंगी। मेरा निज का जो स्वरूप है, उसके अनुरूप कार्य करने की मैं अपनी प्रवृत्ति बनाऊँ। मेरा मूल स्वरूप राग रहित है तो मुझे राग को त्यागने का अभ्यास बनाना चाहिये-रागरहित होकर कार्य करने की क्षमता का निर्माण करना चाहिये। इस तरह का चिन्तन तथा भान जब आत्मा की अपनी आन्तरिकता में जागता है, तब उस आत्मा की स्थिति परिवर्तित होती है और गति भी नई दिशा ग्रहण करती है। तब उसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से जुड़ जाता है।

ज्ञानियों का कथन है कि अध्यात्म शब्द को सुनने और चाहने मात्र से मत समझ लेना कि अध्यात्म से सम्बन्ध जुड़ गया है। यह तो आत्मा की समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में एक शुभ परिवर्तन के साथ आन्तरिकता में रमण करने की स्थिति होती है जो आत्मा की उज्वलता को निखारती है। यह मत सोच लेना कि अध्यात्म शब्द आ गया और अध्यात्म शब्द सुन लिया तो जीवन परिवर्तित हो गया और आत्मा उज्वल बन गई। शब्द मात्र पर ध्यान देने से भ्रान्ति भी हो सकती है। शब्द श्रमण करने के पश्चात् उसके अर्थ का अनुसंधान करने से तथा उसको जीवन में उतारने से ही आत्मा का स्वरूप उज्वल बन सकता है।

अध्यात्म शब्द के अर्थ का अनुसंधान तथा उस पर आचरण

प्रार्थना में अध्यात्म के सम्बन्ध में समग्र स्थिति का सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है कि-

शब्द अध्यात्म अर्थ सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे।

शब्द अध्यात्म भजना जाणी, हान ग्रहण मती धरजो रे ॥

अध्यात्म शब्द को सुनकर ही मत रह जाओ, बल्कि उस शब्द के अर्थ का ज्ञान करो। शब्द में जो अक्षर हैं, वे अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं और किसी वस्तु के नाम के रूप में भी उनका प्रयोग किया जा सकता है। इससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिये मुख्य बात यह है कि अध्यात्म शब्द के आन्तरिक अर्थ का अनुसंधान किया जाय। यह अर्थ है अन्दर में उतरना तथा इसके अनुसार भीतर की जो प्रक्रियाएं होती हैं, उन्हें आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की संज्ञा दी गई है।

अब इस अध्यात्म शब्द को दूसरे रूप में ले लें। यह शब्द थोड़ा अटपटा लगता है। इसी के अन्दर आरोपित वस्तु का घोटन करने वाला धर्म शब्द है और धर्म को धारण करने वाला धर्मी कहलाता है। इसको जरा बारीकी से समझना होगा। आप समझ लेते हैं कि जो धर्म करने वाला है वह धर्मी है। धर्म स्वभाव को कहते हैं और स्वभाव को धारण करने की अवस्था में धारक को धर्मी कहा जाता है। शब्द चाहे धर्म हो-चाहे अध्यात्म हो, लेकिन उसके पीछे वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन का या धर्म का स्वरूप है या नहीं-इसका अवलोकन सबसे पहले अपने ऊपर कहना चाहिये। यह

तभी हो सकता है जब शब्द सुनकर उसके अर्थ का सही अनुसंधान किया जाय तथा उस अर्थ पर निष्ठापूर्ण आचरण किया जाय।

यह आत्मचिन्तन का विषय होता है कि यदि मैं आध्यात्मिक कहलाता हूँ तो अध्यात्म की प्रक्रियाएं मेरे भीतर सक्रिय बन सकी हैं, अथवा नहीं। यदि सक्रिय बनी भी हैं तो वे किस सीमा तक जीवन में व्याप्त हो सकी हैं? भीतर में देख सकने की क्षमता उत्पन्न हुई है अथवा नहीं, और हुई है तो आत्मावलोकन तथा आत्मालोचना की प्रक्रियाओं से आत्मशुद्धि का कितना कार्य अब तक सफल बनाया जा सका है? सामायिक समता के जिन उत्कृष्ट भावों के साथ की जानी चाहिये, उन भावों के साथ होती है अथवा नहीं? इस आत्मचिन्तन के साथ ही आत्म परीक्षा का क्रम चलना चाहिये।

सामायिक पचक्खर कर बैठ जाना यह तो एक प्रारम्भिक प्रक्रिया होती है, लेकिन यह प्रक्रिया कितनी भीतर में उतरती है तथा भीतर को उज्वल बना पाती है उसी में उस प्रक्रिया का महत्व समाया हुआ रहता है। जब इस प्रक्रिया के भीतर में उतरेंगे तभी यह सोचेंगे कि मैं मुख-वस्त्रिका धारण करके क्यों बैठा हूँ? किस कार्य या उद्देश्य के लिये मैंने ऐसा वेश धारण किया है? सामायिक में बैठ कर मुझे अपने भावों को किस रूप में ढालना है? तब आप गहराई से भीतर ही भीतर विचार करेंगे और जानने का प्रयास करेंगे कि सामायिक करने का प्रमुख उद्देश्य क्या होता है? तब आप जानेंगे कि इस समय मुझे खुले रूप में प्रवृत्ति नहीं करनी है। अब वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों में समता का विस्तार होना चाहिये।

सामायिक शब्द का गूढ़ अर्थ और समता का आचरण:

सामायिक शब्द के गूढ़ अर्थ पर जब चिन्तन किया जाय तो पहला विचार यह आवे कि यह मुख वस्त्रिका वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये बांधी गई है: खुले मुंह बोलने से वायुकाय के एवं त्रस जीवों की घात होती है, जिस पाप कार्य से आत्मस्वरूप मलिन बनता है। आत्मा काली इस कारण बनती है कि इन छोटे जीवों के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित नहीं हो पाई है। जब तक संसार के छोटे-बड़े समस्त जीवों के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित नहीं होती है, तब तक समत्व योग याने समता का निर्माण नहीं हो पाता है। समता के निर्माण के अभ्यास का माध्यम होती है सामायिक कि अड़तालीस मिनट की समत्व साधना करते-2 उसका विस्तार समूचे जीवन तक हो जाय। समता का आचरण धीरे-धीरे परिपुष्ट बनता जाय और आत्मा की सम्पूर्ण उज्वलता निखरती जाय।

सामायिक के चिन्तन-क्षणों में यह अनुभूति पैदा होती है कि छोटे जीवों के प्रति भी आत्मीय भावना स्थापित नहीं होती है तो यह अज्ञान है। और अज्ञान हिंसा की वृत्ति से दूर नहीं ले जाता है। हिंसा के भाव जब मन में आते हैं तो कर्म बन्धनों के कारण आत्मा काली बनती है। इसलिये सामायिक की आध्यात्मिक प्रक्रिया में मुख वस्त्रिका का उपयोग किया जाता है ताकि छोटे-2 जीवों के लिये भी रक्षा का विवेक स्थिर बने। मुख वस्त्रिका के उपयोग से वचनों के उपयोग में भी सन्तुलन स्थापित हो जाता है। वचनों का अविवेकपूर्ण उपयोग भी मानसिक हिंसा का कारण होता है। यदि आप सामायिक में बैठे हुए हैं तो ध्यान रखें कि काणे को काणा कहना भी हिंसा है। सत्य भी अप्रिय नहीं कहा जाना चाहिये। वचन के तीर सामने वाले की आत्मा को छेद देते हैं और उसके कारण आत्मीय भावना को हानि पहुंचती है। सामायिक में हंसी मजाक की दृष्टि से भी कटु वचन या झूठा वचन नहीं कहा जाता है। सामायिक सभी प्रकार से जागृत विवेक का प्रतिरूप होनी चाहिये।

आध्यात्मिक जीवन की विवेकपूर्ण प्रक्रिया के साथ सामायिक साधनी चाहिये। हिंसा की अनुमोदना या प्रेरणा देने वाले शब्द भी मुंह से नहीं निकलने चाहिये। किसी को यह भी न कहें कि आइये, जाजम पर बैठिये क्योंकि उसकी उस क्रिया में जाजम के नीचे रहे हुए चींटी आदि जन्तु की भी हिंसा होगी तो उसके उस पाप में आप भी भागीदार बन जाते हैं। किसी कार्य के लिये भी संयमित शब्दों का ही उच्चारण होना चाहिये-पापकारी भाषा का प्रयोग नहीं हो। जैसे

साधु दया पालो कहते हैं, वैसे ही सामायिक में संयमित भाषा का प्रयोग करे। सावध योग से बचने का प्रत्येक समय में विवेक रहना चाहिये। यह ध्यान रहे कि प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य समझें।

आत्मीय भावना का विकास और समस्त जीवों के प्रति दया का भाव-यह समत्व योग की मूल बातें होती हैं। सामायिक के समय में जब इन बातों के प्रति पूरा-2 ध्यान रखा जाता है तो फिर चौबीस घण्टों के व्यावहारिक जीवन में भी ऐसी समता की वृत्ति विस्तृत होती हुई चली जाती है तथा समता का आचरण सारे जीवन का मूलाधार बन जाता है।

अध्यात्म के निर्विकल्प आचरण से धर्म का रंग चढ़ता है

एकान्त आध्यात्मिक आचरण निर्विकल्प आचरण है। अध्यात्म ही अध्यात्म-उसका कोई विकल्प नहीं जब ऐसी निर्विकल्प साधना का क्रम बैठता है तो वास्तविक रूप में धर्म का रंग चढ़ता है। और यह धर्म क्या? आत्मा का जो मूल स्वभाव होता है, वही उसका धर्म है। अध्यात्म साधना से आत्मा अपने मूल स्वरूप-अपने धर्म में अवस्थित होती है।

सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएं -ये सभी आध्यात्मिक साधना में समाविष्ट होती हैं। मूल दृष्टिकोण यह रहना चाहिये कि इससे भीतर का जीवन स्वच्छ और पवित्र बने तथा मन की गतिविधियां संयमित हो। अध्यात्म का निर्विकल्प आचरण जब जीवन में एक रूप बन जाता है तो जीवन आत्मार्थी हो जाय-उसमें कोई सन्देह नहीं।

धर्मन्द्र एक विद्यालय का छात्र था-पढ़ने में कुशाग्र तथा व्यवहार में विनीत, क्योंकि उसकी माता भी श्रेष्ठ संस्कार व विनय धर्म का निर्वाह करने वाली थी। एक दिन वह अपनी माता के साथ बाजार में चल रहा था कि रंगरेज की दुकान आई, जहां वह वस्त्रों को कई रंगों में रंग रहा था। माता ने उसको जानकारी दी कि विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न रंगों की रुचि होती है और यह रंगरेज सभी की रुचियों के अनुसार रंगसाजी करता है। माता तो उस उदाहरण से भी बच्चे को आध्यात्मिकता का ज्ञान कराना चाहती थी। उसने समझाया कि किन्हीं वस्त्रों का रंग कच्चा होता है और किन्हीं का पक्का रंग। पक्का रंग उतरता नहीं है। इसी तरह जीवन में भी कच्चा और पक्का रंग होता है। धर्म का रंग भी चढ़ता है और पाप का रंग भी चढ़ता है तथा दोनों के कच्चे-पक्के रंग होते हैं। जो भव्य प्राणी भगवान् की वाणी सुनकर अध्यात्म का निर्विकल्प आचरण करता है, उसके मन पर धर्म का पक्का रंग चढ़ जाता है जो कभी उतरता नहीं है, बल्कि उस रंग में एक अद्भुत चमक पैदा हो जाती है जो दूसरों को भी प्रभावित बनाती है और प्रेरणा देती है।

धर्म का पक्का रंग जब चढ़ता है और अध्यात्म की जब निर्विकल्प साधना होती है तो उसकी आत्मा की आवाज मजबूत हो जाती है। वह फिर उसी आवाज का अनुसरण करता है तथा बाहर के पौद्गलिक प्रभावों से मुक्त हो जाता है। एक शिष्य गुरु की आज्ञा लेकर एकान्त स्थान में बैठा और शास्त्र के शब्दों का उच्चारण करते हुए उनके अर्थ पर चिन्तन करने लगा। इस तरह वह अपने ही अन्दर उतरने लगा। वह इतनी गहराई तक चला गया कि उसको तब बाहर के शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा। ढोल ढमाके उसके पास से निकले, मगर उस ने कुछ भी नहीं सुना। चिन्तन से निवृत्त होकर वह गुरु के पास पहुंचा तो गुरु ने वैसे ही पूछ लिया-ये अभी ढोल-ढमाके किस बात के निकले थे? उसने निर्दोष भाव से कहा-मैंने तो कोई ढोल ढमारा नहीं सुना। एक श्रावक वहां बैठा था, उसने कहा-आपके शिष्य असत्य बोल रहे हैं-इतने जोरों का ढोल ढमाका भी इन्होंने नहीं सुना। शिष्य ने नम्रता से गुरु को कहा मैं तो अध्यात्म चिन्तन में बैठा था, अपने भीतर देख रहा था, बाहर क्या हुआ या क्या सुनाई दिया मुझे कुछ भी नहीं मालूम। शिष्य के उस आत्म चिन्तन की गम्भीरता का तब उस श्रावक को भी भान हुआ। धर्म का पक्का रंग जब चढ़ता है तो वह ऐसा ही गहरा होता है।

धर्मन्द्र की माता ने जब यह सारी जानकारी उसको दी तो वह हृदय से हर्षित हुआ। उसने पढ़ाई पूरी करके अपने मामा के साथ धन्धा शुरू कर लिया और थोड़े ही दिनों में वह कुशल जौहरी बन गया। एक दिन वह बाहर गया

हुआ था और मामाजी ने भूल से एक नकली रत्न खरीद लिया व कीमत भी ज्यादा दे दी। लेकिन धर्मेन्द्र ने वापिस आकर उनको उपालंभ नहीं दिया, बल्कि उसने मामाजी से कहा कि देने वाले ने अपने को धोखा दे दिया है, लेकिन अपने किसी को धोखा नहीं देंगे और अपनी आत्मा को काली नहीं करेंगे। जब योग होगा तो इस रत्न का भी कुछ न कुछ मोल आ ही जायेगा।

एक दिन एक व्यापारी रत्न खरीदने के लिये वहां पर आया। संयोग से उसने उस नकली रत्न को पसन्द कर लिया। तब धर्मेन्द्र ने स्पष्ट कहा-यह रत्न नकली है-भूल से हमने ज्यादा कीमत देकर ले लिया था इसलिये आप इसको असली समझ कर नहीं खरीदें। धर्मेन्द्र की ऐसी धर्मपरायणता को देखकर वह व्यापारी चकित रह गया। उसने धर्मेन्द्र की सच्चाई की भूरी-2 प्रशंसा की तथा कहा कि जैसा भी हो यही रत्न मुझे पसन्द है लेकिन अब तो मैं वही कीमत दूंगा जो तुमने उस व्यापारी को दी है। कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यात्म और धर्म के आचरण से व्यावहारिक जीवन में कभी हानि नहीं होती है। होना यह चाहिये कि धर्म का रंग पक्का चढ़ा हुआ हो।

जीवन का मूल मंत्र धर्माचरण:

मेरे कई भाई-बहिन सोचते होंगे कि हम इतना धर्म करते हैं लेकिन हम को तो कुछ भी लाभ नहीं होता है। इसके लिये आप बारीकी से देखें कि आपका धर्माचरण कितना बाहरी दृष्टि का है और कितना अन्दर की वृत्ति का? धर्म का समग्र आवरण आत्मोन्मुखी बनना चाहिये तभी वह आध्यात्मिक आचरण बनता है और सारे जीवन की प्रक्रियाओं में एक शुभतर परिवर्तन लाया जाता है। धर्म दिखाने का नहीं, करने का होता है और अन्तर्हृदय से करने का होता है। सच्चे अर्थों में जब आध्यात्मिक भावना जागृत होती है तो वह साधक आत्मार्थी बन जाता है।

अध्यात्म शब्द को सुनें, उसके अर्थ का अनुसंधान करें। ऐसा आचरण होना चाहिये कि कठिन से कठिन पीरक्षा काल में भी वह आचरण खरा उतरे। ऐसी सच्ची निष्ठा और अविचल स्थिति बन जानी चाहिये। वीतराग देव की महान् कृपा से यह आत्म-साधना का मार्ग आपको मिला है और यह अमूल्य मानव जीवन भी मिला है- इसको आध्यात्मिक बनाइये, धर्म का पक्का रंग चढ़ाइये और समतामय हो जाइये।

दि.17-10-77

१११

12. सच्चा सौन्दर्य

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी.....

इस मनुष्य जीवन को पवित्र बनाने के लिये जिस साधन की आवश्यकता है; उसको सबसे पहले स्वीकार करना चाहिये। साधन की दृष्टि से जिसको आप स्वीकार करना चाहते हैं, यह देखने की आवश्यकता है कि वह साधन कैसा है, उसका वस्तु स्वरूप क्या है तथा उसको स्वीकार करने का क्या परिणाम निकलेगा? वस्तुगत स्वरूप की पहिचान किये बिना साधना की सही परीक्षा संभव नहीं होती है।

कोई रसोई करने बैठे उससे पहले उसको रसोई की सामग्री तथा उसके विधि-पूर्वक उपयोग का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि वह सामग्री को नहीं समझता, उसके उपयोग की विधि को नहीं जानता तो वह अच्छी रसोई भी नहीं

बना सकता है। उसी प्रकार इस आत्मा के कल्याण या आत्मा के पवित्र स्वरूप को एक रसोई या पाक मानिये। यदि यह पाक बनाना है तो उससे सम्बन्धित साधना के अन्तर्गत आने वाले जितने सहायक तत्व हैं, उन सबका ज्ञान करना भी नितान्त अनिवार्य है। जिन तत्त्वों की सहायता, साधना और आराधना के बल पर आत्म कल्याण अपेक्षित है, उन सब तत्त्वों के स्वरूप को पहिचानना होगा, जिसके आधार पर जीवन में उनका प्रयोग किया जा सकेगा।

साधना और साधक-

सबसे पहले साधना करने वाला जिज्ञासु इन तथ्यों की जानकारी करे कि वस्तुतः साधक कौन है और साधना किन तत्त्वों की करनी है? उन तत्त्वों का स्वरूप क्या है तथा उन तत्त्वों के सम्पर्क में साधना करने वाला किन रूपों में आता है? साधना करने वाला कौन है-इसका स्पष्टीकरण ध्यान में रखिये कि साधक यह शरीर नहीं हैं-साधना करने वाली आत्मा होती है। यह शरीर तो साधन रूप में साथ में लगा हुआ है। आत्मा और शरीर का संयुक्त सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। लेकिन दोनों में कुछ ऐसा प्रयोग हो चुका है कि जिससे साधना करने वाली आत्मा यह सोचती है-मेरे लिये शरीर का ही साधन है। यह शरीर जितना स्वरूपवान्, बलवान् और शक्तिमान् बन सकता है, उतना उसे बनाना चाहिये। जीवन की सार्थकता शरीर की सुन्दरता और सुघड़ता में रही हुई है।

किन्तु वह आत्मा इस तथ्य को भूल जाती है कि यह शरीर स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। इसका भी संचालक मूल तत्त्व चेतन तत्त्व है। वह यह भी भूल जाती है कि शरीर तो नाशवान् है और इस को कितना ही स्वरूपवान्, बलवान् एवं शक्तिमान् बनाया जाय-इसका बल और लावण्य कभी भी दीर्घकाल तक टिकने वाला नहीं है। मकान पर कितना ही रंग रोगन किया जाता है, लेकिन आखिर वह कितने दिनों तक टिक पाता है? शुरू-2 में कुछ दिनों तक उसकी चमक रहती है, लेकिन बाद में वह हल्की पड़ जाती है और वर्षा व धूप की मार से नष्ट होने लग जाती है। दीवारों का रंग धूप से उड़ता है और बरसात से साफ होता चला जाता है। वे दीवारें तब रंगहीन होने लग जाती हैं। दीवार की स्थिति का जो प्रसंग है, उसमें मिट्टी और अन्य प्रकार का सम्मिश्रण होता है। वैसे ही शरीर भी एक तरह की दीवार है। उसका भी कितना ही रूप संवारा जाय, वह सजावट और संवार ज्यादा टिकती नहीं है। पहली बात तो यही है कि जैसा रूप मिला है, उसको बदल कर पूरी सुन्दरता में ढाल देना तो शक्य ही नहीं है। फिर भी ऊपर की श्रृंगार सामग्रियों से उसको जो संवारने की चेष्टा की जाती है, उसमें भी कोई स्थायित्व नहीं होता। बल्कि यदि सद्विवेक से शरीर का निर्वाह किया जाय तथा विधिपूर्वक जीवन जिया जाय तो फिर भी प्राकृतिक रूप से शरीर पर कान्ति चमक सकती है।

शरीर के रूप रंग के पीछे दुनिया मरती है-यह जानते हुए भी कि यह रूप रंग नश्वर होता है-इससे बढ़कर अविवेक की बात क्या हो सकती है? सनत्कुमार जैसे बड़े चक्रवर्ती सम्राट् ने भी अपना सौन्दर्य संवारा था तथा अपने सौन्दर्य का भारी ग़रूर भी किया था, लेकिन उसका अन्तिम परिणाम क्या हुआ-यह सब आप जानते हैं? आप यह भी जानते हैं कि उस ग़रूर को मिटा कर जब उन्होंने संयम और तप का श्रेष्ठ अनुष्ठान किया तो शरीर को सुन्दर बनाने की उन्होंने अनुपम सिद्धि भी प्राप्त करली लेकिन तब उनको उस सुन्दरता की कोई परवाह नहीं रही, क्योंकि वे आत्म सौन्दर्य के साधक बन चुके थे। उनकी आत्म-सौन्दर्य की साधना का ही फल था कि वे अनन्त सौन्दर्य के स्वामी बन गये।

इस दृष्टि से समझने की बात यह है कि साधना करने वाली आत्मा होती है, शरीर नहीं और न साधना शरीर के लिये करनी चाहिये। शरीर को आत्म साधना का साधन बनाना चाहिये और उन तत्त्वों का ज्ञान किया जाना चाहिये जिनके बल पर आत्म साधना को सफल बना सकते हैं।

शरीर सौन्दर्य पर आसक्त मत बनो-

तीर्थकर और चक्रवर्ती दोनों की माताओं को गर्भ धारण के समय एक से पवित्र चौदह स्वप्न आते हैं और उन स्वप्नों का उस समय इतना ही निर्णय किया जा सकता है कि गर्भस्थ बालक या तो तीर्थकर होगा या चक्रवर्ती होगा।

यह विकल्प ही कहा जा सकता है, निश्चय नहीं कहा जा सकता । ऐसी विशिष्ट पुण्यवानी के साथ सनत्कुमार का जन्म हुआ । वे चक्रवर्ती बने लेकिन उनका शरीर इतना सुन्दर और लावण्ययुक्त था कि मनुष्य लोक में तो क्या-देवलोक में भी उसकी महिमा छाई हुई थी । वह रूप अद्वितीय माना जाता था । दूर-2 से आकर लोग उनके सौन्दर्य का दर्शन करते थे और अपने आपको धन्य मानते थे । शत्रु तक उनके रूप की सराहना करते थे ।

यह सारा वातावरण जब भूमंडल पर व्याप्त हो रहा था एक दिन इन्द्र की सभा में भी सनत्कुमार के रूप लावण्य की चर्चा चली और तब इन्द्र ने भी उस रूप लावण्य की सराहना की । यह सराहना एक देव को अच्छी नहीं लगी कि देव शरीर की तुलना में एक मर्त्य शरीर की सराहना कैसे सत्य हो सकती है ? उसने इस सराहना को असत्य सिद्ध करने का बीड़ा उठाया और उसके लिये वह मनुष्य लोक में पहुंचा । तब मनुष्य लोक के अनुसार ही उसने अपना रूप बनाया । वह एक अति वृद्ध एवं अति दुर्बल ब्राह्मण बन गया और सिर पर फटी हुई जूतियों की एक पोटली धर ली । फिर वह थकी हुई चाल में चलता हुआ चक्रवर्ती सनत्कुमार के राजभवन के द्वार पर पहुंचा । उसने द्वारपाल को कहा-चक्रवर्ती के अनुपम रूप की सराहना मैंने सुनी थी-उसी को देखने के लिये वर्षों से चल कर आ रहा हूं । इतनी जूतियां फट गईं और उमर ढल गई-तब यहां पहुंचा हूं । अब तुम विलम्ब न करो और चक्रवर्ती महाराज से निवेदन करके मेरी इच्छा को पूरी कराओ ।

द्वारपाल जब भीतर निवेदन करने गया तो सनत्कुमार अपने वस्त्र उतार कर खुले बदन स्नान करने के लिये बैठे ही थे । द्वारपाल से उस वृद्ध ब्राह्मण का हाल सुनकर उनको भी जिज्ञासा हुई कि ऐसे रूप के अनुरागी व्यक्ति को देखने में वे भी विलम्ब नहीं करें । उन्होंने उसी समय वृद्ध को भीतर भिजवाने की आज्ञा दे दी । वे चाहते थे कि ब्राह्मण उनको वस्त्रा भूषणों से युक्त सारी रूप सज्जा के साथ ही देखे किन्तु वृद्ध के तुरन्त दर्शन आग्रह को भी वे नहीं टाल सके । ब्राह्मण ने भीतर आकर जब चक्रवर्ती के उस निर्वस्त्र एवं निराभरण स्वरूप को भी देखा तो वह आश्चर्यचकित सा खड़ा ही रह गया और सुन्दरता की सराहना में हर्षातिरेक से अपना सिर हिलाने लगा ।

ब्राह्मण रूप धारी देव ने भी मन में सोचा कि इन्द्र ने जो सराहना की थी, वह तहमेव सत्य है । ब्राह्मण के आश्चर्य और हर्ष को समझ कर सनत्कुमार का मन गरुर से भर उठा । वे इठलाकर बोले-अरे, ब्राह्मण, अभी इस शरीर का सौन्दर्य तुम्हारे सामने पूर्ण रूप में नहीं है । जब रूप सज्जा के साथ मैं राज्य सभा में सिंहासनासीन होऊं तब देखना । उस रूप के सामने इन्द्र को भी स्पर्धा होगी ।

फिर चक्रवर्ती ने राज्य सभा में बैठकर ब्राह्मण को भीतर बुलवाया और गर्व युक्त स्वरों में पूछा -अब देखो चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप और अपनी चिरपोषित अभिलाषा को पूरी करो । लेकिन यह क्या ? ब्राह्मण के मुंह पर उदासी और नजरें नीची । वह कुछ नहीं बोला । कुछ घबरा कर चक्रवर्ती ने कहा-क्या हो गया, तुम कुछ बोले नहीं ? उस समय तो आश्चर्य और हर्ष में डूब गये थे जबकि रूप सज्जाविहीन था ।

ब्राह्मण ने कहा-क्या सत्य कहने की मुझे आज्ञा है ?

चक्रवर्ती ने अधिक घबराकर कहा-हां, हां, जरूर कहो, क्या बात है ? ब्राह्मण धीरे-धीरे बोला-महाराज, वह स्नान घर वाला आपका अद्वितीय सौन्दर्य अब नहीं रहा ।

चक्रवर्ती का चेहरा क्रोध से लाल हो उठा-क्या प्रमाण है तुम्हारी इस बात का ? ब्राह्मण ने कहा-आप कृपया राजवैद्य को बुलवा लीजिये और अपने शूक की परीक्षा करवा लें ।

ऐसा ही किया गया, तब पता चला कि चक्रवर्ती के शरीर में सोलह प्रकार के भयंकर रोग उत्पन्न हो गये हैं । यह जान कर सनत्कुमार ठगे से रह गये कि जिस सुन्दर शरीर पर उनको इतना गर्व था, उसकी घड़ी भर में ही ऐसी दुर्दशा हो गई ? उनका सुन्दरता का गर्व चूर-2 हो गया था ।

सच्ची सुन्दरता-आत्म सौन्दर्य-

तब चक्रवर्ती सनत्कुमार को वस्तु स्वरूप की पहिचान हुई कि शरीर का वास्तविक स्वरूप क्या होता है? वे सोचने लगे कि मैं कितना अज्ञानी था जो शरीर के नाशवान रूप को ही सब कुछ समझ बैठा। यह शरीर कुछ भी नहीं है अगर विवेक और ज्ञान की शून्यता है। सब कुछ है तो वह आत्मा-वह मैं जो इस शरीर का संचालक है। ठोकर लगने के बाद संभल जाना भी इंसानियत होती है। वे संभले शरीर के वस्तु स्वरूप को उन्होंने पहिचाना तथा आत्मा के वस्तु स्वरूप को पहिचानने का यत्न आरंभ किया। उन्हें वास्तविकता का बोध हुआ तथा वे आत्म सौन्दर्य प्राप्ति की ओर गति करने के लिये उद्यत बने।

वस्तु स्वरूप की सही पहिचान करने पर ही पता चलता है कि आत्मा का सौन्दर्य महान् होता है। शरीर का पौद्गलिक रूप तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होकर नाशवान होता है। आज सुन्दर दिखाई देने वाला शरीरिक रूप पल भर में विच्छिन्न होकर नष्ट हो सकता है, लेकिन स्वरूप शुद्धि के बाद आत्मा का सौन्दर्य जिस तेजस्विता के साथ निखर उठता है, वह अजरामर हो जाता है। वैसा दिव्य रूप परमात्मा का होता है और वैसा ही दिव्य रूप मूल में इस आत्मा का भी है किन्तु अपनी साधना के बल पर उस दिव्य स्वरूप को प्राप्त करना होता है। उसकी प्राप्ति साधना की दिशा में अविचल गति करने से ही हो सकती है।

प्रार्थना में कवि आनन्दघनजी ने इसी सत्य को स्पष्ट किया है-

अध्यात्मी जे वस्तु विचारी, बीजा बधा लबासी रे।

वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मतवासी रे॥

कवि ने कहा है कि सच्ची आध्यात्मिकता वह है जो वस्तु स्वरूप की सही पहिचान करा कर भव्यों को आत्मोन्मुखी बनाती हो। जो वस्तु स्वरूप की वास्तविकता को नहीं पहिचान पाता है, वह शरीर और आत्मा के सत्य वस्तु स्वरूप को भी नहीं पहिचानता है और आत्मिक सौंदर्य को प्राप्त करने की सही दिशा में भी गति नहीं कर सकता है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान यह मूल आधार होता है।

जो वस्तु स्वरूप जैसा है, उसको उस रूप में समझें और जो वस्तु स्वरूप जैसा नहीं है, उसको उस रूप में नहीं समझें-यह उस ज्ञान की यथार्थता होनी चाहिये। जो मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है, उसको लक्ष्य मान कर चल पड़ने में ही जीवन की भयंकर भूल हो जाती है। उसी भूल का दुष्परिणाम देखने को मिलता है कि आज के अधिकांश व्यक्ति आत्म स्वरूप को तथा आत्म सौंदर्य की प्राप्ति के लक्ष्य को भूल कर शरीर की भौतिक सुन्दरता के पीछे आकर्षित होते हैं तथा शरीर के सुख साधनों की पूर्ति के लिये भटकते फिरते हैं। शरीर की ही सार सम्भाल करना, और उसके रूप पर फूले-2 फिरना-यह अज्ञानपूर्ण मनःस्थिति है, जिसके कारण आत्म साधना के लिये समय ही नहीं निकाला जाता है। जीवन के साथ केवल पौद्गलिक ममता का जो यह सम्बन्ध जुड़ गया है, वह आत्मा के सही वस्तु स्वरूप को पहिचानने के ज्ञान को अवरुद्ध बनाये रखता है। इस अज्ञान को दूर करने की सबसे पहले आवश्यकता है क्योंकि जब तक यह अज्ञान बना रहता है, तब तक न तो आत्मा का सौंदर्य समझ में आता है और न उसकी प्राप्ति की ओर गति ही बन पाती है।

आत्म-परमात्म का अस्तित्व बोध-

आत्मा, परमात्मा, धर्म आदि कुछ नहीं हैं-ऐसी बातें कहने वाले अपने आपको कुछ भी समझते हों, लेकिन कवि आनन्द घनजी कहते हैं कि वे सब लबासी हैं-बकवासी हैं। वे आध्यात्मिक नहीं है। वे मोह और भोग की तरफ लीन हैं। वे अज्ञानी हैं और अपनी आत्मा को काली कर रहे हैं। योग और त्याग के प्रति उनकी उदासीनता उनके अपने जीवन को उन्नत नहीं होने देती है। वे सांसारिकता को ही सब कुछ मानकर चलते हैं और यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्

ऋण कृत्वा घृतं पिबेत् की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। इस दृष्टिकोण से वे वस्तुगत स्वरूप की पहिचान से दूर हटते जाते हैं। अज्ञान ही उनका रमण क्षेत्र रह जाता है।

इसलिये ज्ञानीजन शास्त्रकार कहते हैं कि उनकी वैसी धारणा मिथ्या होती है। इस धारणा को लेकर मनुष्य मदान्ध बन जाता है लेकिन किसी की भी मदान्धता भला कितने दिन चल पाती है? जो रूप दिखाई देता है, क्या वह स्थायी रहता है? कभी-2 कोई रूपवान् दर्पण में देखता रहे तो उसे परिवर्तन स्पष्ट हो जायगा। यह रूप प्रतिदिन और प्रतिक्षण बदलता रहता है। शरीर नश्वरता की तरफ बढ़ता रहता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि शरीर की रौनक समय-2 पर जा रही है। रोज-2 मनुष्य को मालूम नहीं होता, पर कई दिनों बाद अचानक देखे तो मालूम हो जाता है। पहले का सा रूप आज नहीं है और आज का सा रूप कल नहीं रहेगा, यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव है।

इस परिवर्तनमय अवस्था को ध्यान में लेकर मानव को शरीर की हालत को देखकर आत्मा के स्वरूप पर सोचने की जरूरत है। सनत्कुमार चक्रवर्ती का ध्यान जब शरीर से हटकर आत्मा की तरफ लगा तो उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया। जो आत्म स्वरूप को सही रूप में जान लेता है, उसका सारा अज्ञान दूर हो जाता है और उसको संसार पक्ष एवं अध्यात्म पक्ष के समग्र तत्वों का यथार्थ वस्तु स्वरूप दृष्टिगत हो जाता है। वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मन वासी रे के अनुसार उसे वस्तुगत स्वरूप की पूर्ण पहिचान हो जाती है।

आनन्दघन भगवान् का नाम भी है और आनन्दघन कवि का नाम भी है। सिद्ध स्वरूप सत् चित् और आनन्दमय होता है और अनन्त आनन्द में रमण करता रहता है। यह सोचें कि वे सिद्ध भगवान् सिद्ध कैसे बनें? क्योंकि उन्होंने पहले अपने ही शरीर में रहने वाले अपने चैतन्य देव के स्वरूप को पहिचान लिया। उसे पहिचान कर उन्होंने अपने जीवन में उसी का शासन स्थापित कर लिया। एक आत्मानुशासी ही आत्म कल्याणी बनता है। आप अपने अज्ञान को हटा कर आत्मानुशासी बन जावें तो एक दिन आत्म कल्याणी भी बन सकेंगे।

आत्मदर्शी बने-

जो अपनी आत्मा का दर्शन कर लेता है, वह आत्मा को सजाता संवारता है, उसके स्वरूप को सुन्दर बनाता है। आत्म सौन्दर्य का मार्ग सत्य और शिव की लीक पर चलता है-सत्यं शिवं सुन्दरम्। जहां सत्य है, जहां कल्याण है, वहां अवश्य आत्म सौन्दर्य की विद्यमानता होती है। एक आत्मदर्शी ही आत्म सौन्दर्य का स्वामी बनता है।

आत्म सौन्दर्य की उपलब्धि दिव्य स्वरूप का निर्माण कर देती है। आत्म सौन्दर्य के स्वामी की तेजस्विता का कितना सुन्दर वर्णन है-

अहो वण्णो, अहो रूवं, अहो अजरस सोमया।

अहो खंती, अहो मुत्तो, अहो भोगे असंगया।।

जब सम्राट् ने अनार्थी मुनि को देखा तो उनके अनुपम आत्म सौन्दर्य की बाहर बिखरी हुई तेजस्विता से प्रभावित बनकर उसके मुख से निकल पड़ा-क्या इनका वर्ण है, क्या इनका रूप है, क्या इनमें आत्मिक शान्ति व्याप्त है, क्या इनकी क्षमा है, क्या इनका मुक्त व्यक्तित्व है और क्या भोगों से विमुक्तता है? ऐसा होता है आत्म सौन्दर्य का सुन्दर स्वरूप !

इसलिये शरीर के रूप के आकर्षण की नश्वरता को समझें और अमर आत्मिक सौन्दर्य को अपना देने की दिशा में आगे बढ़ें। यह मनुष्य जीवन इसकी ही साधना के लिये मिला है-इसे अगर मिथ्या तत्वों के पीछे बरबाद कर दिया तो समय निकल जायगा और फिर कुछ नहीं होगा। जब तक नेत्र टिमटिमा रहे हैं और सांस चल रही है, तब तक लक्ष्य प्राप्ति के लिये कुछ ठोस काम कर लें। जब तक हाथ में डोर है तब तक ही कुछ कर लेने की क्षमता भी है। यह देखें कि आप लोगों के हाथ में डोर भी है क्या? डोर तो हैं, मगर पकड़ नहीं है इसीलिये वृद्धावस्था आ जाती है फिर भी

संसार में घिसटते रहते हैं। पुत्र पौत्र कह देते हैं कि आप धर्म-ध्यान में लगे फिर भी मन संसार से हटता नहीं है। लेकिन जिस दिन आंख बन्द हो जायगी, उस दिन फिर क्या करोगे?

आत्म दर्शन की दिशा में जिस समय भी बोध हो-बिना विलम्ब किये चल पड़े। उसके बीच में न संसार का मोह आना चाहिये और न किसी प्रकार की हिचकिचाहट। जिन्दगी को अच्छे काम में लगा दें तो आत्मा का आनन्द अवश्य फूट पड़ेगा। जितना त्याग कर सकें, उसके लिये तत्परता रखें। श्रावक के बारह व्रत ही ग्रहण करके आत्म शुद्धि के सत् कार्य में लग जावें। कम से कम जिनको सांसारिक कार्यों से छुट्टी मिल चुकी है, उनको तो ख्रास तौर से सोचना चाहिये कि कौन जाने कल क्या हो जाने वाला है? इस नश्वर संसार में जो आत्म साधना कर ली जाती है, वही अपनी रहती है-बाकी सब यहीं छूट जाता है। नोखा मण्डी में एक भाई सोच रहा था कि पत्नी को अठाई का पारणा करा कर परदेश के लिये विदा हो जाऊंगा। क्या वह जानता था कि वह संसार से ही विदा हो जायगा? यह हाथ की बात है कि जितनी शक्ति है-जितनी डोर बची हुई है-उसको आध्यात्मिकता की ओर लगा दें तथा आत्मा की सुन्दरता को लक्ष्य बना लें।

नित्यानित्यता का बोध-

वस्तुगत स्वरूप की पहिचान का अर्थ यह है कि अनित्य के स्वरूप को अनित्य मानें और नित्य के स्वरूप को नित्य समझें। अनित्य स्वरूप के प्रति अपनी ममता को त्यागें और नित्य स्वरूप को समता के साथ धारण करें। जो नित्य को नित्य समझता है तथा अनित्य को अनित्य समझता है, उसको सही मार्ग खोज लेने में न तो अधिक कठिनाई होती है और न ही अधिक विलम्ब लगता है। जैसे नाक में आये हुए श्लेष्म को कोई भी पुरन्त से तुरन्त बाहर निकाल कर फेंक देना चाहता है, वैसे ही सांसारिक भोगों का एक आत्मार्थी शक्ति तुरन्त त्याग कर लेता है और अपने आत्म साधना में नियोजित कर देता है।

संसार की मोह माया में जो फंसे रहता है, वह नाक के श्लेष्म को बाहर नहीं फेंक कर वापिस गले के नीचे उतारना है। यह बेहोशी की हालत होती है, लेकिन जिनको हौश आ जाता है, वे एक क्षण भी रुकते नहीं हैं क्योंकि वे आत्मा के नित्य स्वरूप और संसार व शरीर के अनित्य स्वरूप को समझ जाते हैं। अनित्य को अनित्य समझ कर फिर कौन बुद्धिमान उससे चिपके रहना चाहेगा? अन्तःकरण पूर्वक जब चैतन्य आत्मा का भान हो जाता है तो फिर वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने का पुरुषार्थ भी पैदा हो जाता है। संकल्प बन जाय और पुरुषार्थ जुट जाय, तब उसके बाद लक्ष्य की ओर प्रगति को कोई शक्ति रोक नहीं सकती है। आत्म शुद्धि एवं जीवन सिद्धि का क्रम तब अनवरत रूप से चल पड़ता है। नित्य स्वरूप की तुलना में ही अनित्य स्वरूप के खोखलेपन का पर्दाफास होता है। जब तक नित्य स्वरूप को नहीं समझा जाय, तब तक अनित्य स्वरूप की असलियत प्रकट नहीं हो पाती है। अच्छाई की तुलना में ही बुराई का बुरापन स्पष्ट होता है और अच्छाई व बुराई के शब्द स्वयं ही तुलनात्मक एवं संदर्भित अर्थ को लिये हुए होते हैं। अच्छाई की महत्ता ही इसलिये है कि वह बुराई से बढ़कर है और बुराई बुराई-2 के रूप में तभी नजर आती है जब अच्छाई सामने होती है इसलिये नित्य स्वरूप को समझें और नित्य स्वरूप की तुलना में अनित्य स्वरूप का मूल्यांकन करें तब अनित्य स्वरूप की नश्वरता और हेयता स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। उसी स्पष्टता में नित्य स्वरूप की उपादेयता स्वयं ही निखर कर सामने आ जाती है। नित्य स्वरूप की पहिचान और साधना एक बार कर ली तो समझिये कि आत्म कल्याण का मार्ग उसने प्रशस्त बना लिया है।

स्वरूप ज्ञान के बाद परिवर्तन शुभ से शुभतर होता है-

वस्तुगत स्वरूप का ज्ञान जब वास्तविक रीति से हो जाता है तो उसके संदर्भ में जब परिवर्तन लाने की प्रक्रिया की जाती है तो वह सदा ही शुभ से शुभतर की ओर गति करती है। स्वरूप ज्ञान का यह आधारगत महत्व माना गया है।

आप जब अपने इस बाहरी रूप को सजाते हैं तो क्या करते हैं? क्रीम पाउडर आदि लगाते हैं और अन्यान्य शृंगार सामग्रियों का प्रयोग करते हैं। पाउडर के लिये आपको पूछें कि यह कैसे बना हुआ है। इसका वैज्ञानिक तथ्य क्या आप जानते हैं? थोड़ा रूपक बता दें। गटर का गन्दा पानी बह रहा है जिसके साथ में सड़े गले पदार्थ मिले हुए हैं। वे सब बहकर भीनासर के पास एक बाड़ी है, वहां पहुंच रहे हैं, जहां सब्जियां तैयार हो रही हैं। तो पता चला आपको कि ये ताजा-2 सब्जियां जिनको आप काम में लेते हैं, किन-2 पदार्थों से बनी हैं? गटर का गन्दा पानी ही सब्जियों के रूप में परिवर्तित हुआ है-यह मानिये। उन सब्जियों और फलों को आप जायका लेकर खाते हैं, लेकिन पूर्व दृष्टि से चिन्तन करिये कि वे सब्जियां और फल क्या हैं? ऐसे ही पौद्गलिक पदार्थों से पाउडर बनता है।

स्व. आचार्य देव जब दिल्ली में विराज रहे थे, तब यमुना के किनारे बाहर जाना पड़ता था। चातुर्मास के पहले वहां अशुचि के ढेर लगे रहने से बड़ी दुर्गन्ध रहती थी। लेकिन वर्षा के बाद वह सारी अशुचि खेतों में काम ले ली जाती और उन्हीं खेतों में बड़े-2 भुट्टे पैदा होते थे जिनको लोग बड़े चाव से खरीदते-खाते। इस रूप में परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वत्र चलती रहती, वस्तुगत स्वरूप को यथावत् पहिचान लेने के बाद ही जीवन की प्रक्रियाओं में शुभ परिवर्तन आता है और विवेक तथा पुरुषार्थ ही पुष्टि के साथ वह आया हुआ शुभ परिवर्तन निरन्तर शुभतर बनता जाता है और एक दिन शुभतर बनकर आत्म स्वरूप को परमोज्ज्वल तथा परमोत्कृष्ट बना देता है- उसे परमात्मा बना देता है।

वस्तु स्वरूप की यथार्थ दृष्टि तो अध्यात्ममय सारी सृष्टि-

वस्तु स्वरूप की यथार्थ दृष्टि जिसको मिल जाती है, उसके लिये सारी सृष्टि ही अध्यात्ममय बन जाती है। आंखों पर जिस रंग का चश्मा होता है, उसी रंग की सारी दुनियां दिखाई देती है। मिथ्या स्वरूप को लेकर जो चलता है, उसकी दृष्टि भी मिथ्या रहती है और उस मिथ्या दृष्टि के साथ वह सांसारिक भोगों में लिप्त होकर अपनी आत्मा को काली बना लेता है। लेकिन जो वस्तु स्वरूप को यथावत् सत्य संदर्भ में समझ लेता है, उसकी दृष्टि सम्यक् बन जाती है। सम्यक् दृष्टि का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होता है क्योंकि आत्मस्वरूप की वास्त-विकता को वह प्रयाण प्रारम्भ कर देता है।

सम्यक् दृष्टित्व के कारण सनत्कुमार चक्रवर्ती नाक के श्लेष्म के समान संसार की मोह-माया को त्याग देते हैं। वह शरीर के रूप पर मुग्ध नहीं होता, बल्कि आत्म सौन्दर्य से प्रभावित होता है। उस परिप्रेक्ष्य में भव्यात्माओं को यही सोचना है कि हमारी आत्मा कहां बैठी हुई है, उसकी दृष्टि कैसी है और उसका स्वरूप ज्ञान कितना परिपुष्ट है? स्वरूप ज्ञान का विषय स्वरूप- चिन्तन का भी विषय होता है और वह चिन्तन वर्तमान की दशा से प्रारम्भ होना चाहिये। यहां से यह चिन्तन जितने अंशों में आध्यात्मिक वस्तु स्थिति की तरफ मुड़ेगा, उतने ही अंशों में मोक्ष की स्थिति समीप में आती जायेगी।

दि. 18-10-77

१११

13. आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी.....

अपनी सम्पूर्ण समुन्नति की भावना रखने वाली भव्य आत्माओं को अपनी उत्कृष्ट साधना का संसार के समक्ष एक अनूठा आदर्श उपस्थित करना चाहिए। वह ऐसा आदर्श होना चाहिये जो इस भूमंडल पर चिरस्मरणीय रहे तथा भव्य जनों को दीर्घकाल तक प्रेरणा प्रदान करता रहे।

भव्य आत्माओं द्वारा संस्थापित ऐसा आदर्श ही आज सम्पूर्ण समुन्नति की प्रेरणा दे रहा है। वह आदर्श ही वर्तमान में लक्ष्य के रूप में रहा हुआ है। वही लक्ष्य अपनी सम्पूर्ण समुन्नति की भावना रखने वाली आज की भव्य आत्माओं के समक्ष रहना चाहिये जिससे कि उनकी गति में किसी भी प्रकार का स्खलन उत्पन्न नहीं हो। जिस भावपूर्ण मनःस्थिति से वे लक्ष्य की ओर प्रयाण करती हैं, वही भावपूर्ण मनःस्थिति गंतव्य स्थान पर पहुंचने तक बनी रहे। आत्मा के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की स्थिति उस लक्ष्य के प्रति गति के समय ध्यान में बनी रहनी चाहिये क्योंकि प्रगति का धरातल उसी स्थिति के अनुसार निर्मित होता है।

त्रिभुवननाथ परनामी की सार्थकता:

प्रार्थना के प्रसंग से जो शब्द आपके सामने आये हैं, वे वासुपूज्य भगवान् की स्तुति रूप हैं, जो उस आदर्श के प्रतीक हैं। वे सिद्ध अवस्था में पहुंच चुके हैं और वे कर्म मल से सर्वथा रहित बन चुके हैं। कवि ने भूतपूर्व न्याय से उसका नामोल्लेख किया है क्योंकि जिस शरीर से उन्होंने सिद्ध अवस्था प्राप्त की थी, उस शरीर का नाम वासुपूज्य था। वे भी मानव शरीरधारी रहे और उस शरीर को धर्म का साधन बना कर उन्होंने अपनी आत्मा की सम्पूर्ण समुन्नति प्राप्त की। वे चिर आदर्श के प्रतीक परमात्मा बन गये। परमात्म पद की प्राप्ति उनकी पुरुषार्थी आत्मा के कर्तृत्व की ही प्रतिफल रूप थी। आत्मा का सफल कर्तृत्व ही उस चरम आदर्श की प्राप्ति करता है तथा परमात्म पद का वरण करता है।

वासुपूज्य भगवान् ने भी अपनी आत्मशक्ति का सर्वोच्च विकास साधा और निर्विकार बन गये। राग द्वेष से रहित होकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया तो वह वासुपूज्य नाम आगे बढ़ गया अर्थात् परमात्मा का नाम बन गया। अरिहन्त तथा सिद्ध होकर वे त्रिभुवन के स्वामी बन गये। यह उनकी आत्मा का भव्य कर्तृत्व हो गया और उस भव्य कर्तृत्व का फल भोग ही मोक्ष के रूप में प्रकट हुआ।

त्रिभुवन के रूप में तीन लोक माने गये हैं-अधो लोक तिरछा लोक एवं ऊर्ध्व लोक। तीनों लोक भगवान् की शक्ति के प्रभाव से अछूते नहीं रहते हैं। सम्पूर्ण लोक एवं समस्त प्राणी वर्ग उनकी ज्ञान शक्ति से प्रभावित होते हैं अतः भगवान् त्रिभुवन नाथ कहलाते हैं। तिरछे लोक में जब भगवान् थे तो जिस मनुष्य के रूप में रहते हुए वे आत्म साधना में अग्रगामी बने थे, उस समय में भूतल पर राजकीय व्यवस्था करने वाले नरनाथ नरेन्द्र, राजा-महाराजा और चक्रवर्ती सम्राट् उनको वन्दन करते थे। और इस दृष्टि से वे तिरछे लोक के स्वामी बन गये। सूर्य का प्रकाश सीमित रहता है लेकिन केवल ज्ञान का प्रकाश असीम होता है। भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त होते ही उस समय सारे लोक में एक समय के लिये सर्वत्र शान्ति व्याप्त हो गई। नरक की मार खाने वाले नेरिये भी क्षणिक शान्ति का अनुभव करने लगे। नीचे लोक में रहने वाले भुवनपति तथा व्यन्तर देवों एवं उनके इन्द्रों के मन पर भी केवलज्ञान की शक्ति का प्रभाव हुआ और वे भी भगवान् को नमन करने लगे। इसलिये अधोलोक के भी वे स्वामी बन गये। ऊपर रहने वाले वैमानिक आदि देवों ने भी उनको नमन किया और वे भगवान् के केवलज्ञान के उत्सव में सम्मिलित हुए एवं प्रमुदित हुए। इस प्रकार त्रिभुवन के इन्द्र भगवान् के चरणों में नतमस्तक हुए तो भगवान् त्रिभुवन के स्वामी हो गये। इन्द्र तो अलग-अलग लोक के स्वामी हैं लेकिन भगवान् अपने अनूठे आदर्श से तीनों लोकों के स्वामी बन गये। इसीलिये भगवान् को त्रिभुवन नाथ कहते हैं। इतने से ही भगवान् का गौरव नहीं है, बल्कि वे परनामी भी बन गये, जिसका तात्पर्य यह है कि उनके आत्मस्वरूप से जितने भी पर थे, वे सब भगवान् के चरणों में नतमस्तक हो गये। आत्मा की सम्पूर्ण समुन्नति का चरम आदर्श जब प्रकट होता है तो आत्मा का सम्पूर्ण कर्तृत्व सफल हो जाता है।

साकार-निराकार रूप:

आत्मा का कर्तृत्व उस समय में सम्पूर्ण समुन्नति के शिखर पर पहुंचता है, जब आत्मा सर्व विजेता बन जाती है। आत्मा के साथ जो पर तत्त्व होते हैं-काम, क्रोध, मद, मत्सर तृष्णा आदि वे आत्मा के शत्रु होते हैं। इन शत्रुओं को पराजित करके आत्मा अरिहन्त के रूप में दिव्य स्थिति को प्राप्त करती है। इसलिये परमात्मा परनामी- शत्रुओं को झुकाने वाले भी कहलाते हैं। साथ ही परनामी से वे श्रेष्ठ नामधारी बन जाते हैं। अरिहन्त की अवस्था से ही आत्मा को सिद्ध स्थिति प्राप्त होती है। वह आत्मा के कर्तृत्व के उत्कृष्टतम फल के रूप में प्रकाशित होती है।

परम स्वरूप को प्राप्त करके आत्मा चैतन्य स्वरूप की स्थिति से चैतन्य रूप में रहने वाले निराकार और साकार दोनों रूपों में आ जाती है। जब सिद्ध भगवान् को केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन में वह देखती है तो सिद्ध भगवान् के सामान्य रूप को देखकर अथवा जगत् के सभी पदार्थों को सामान्य रूप से देखने पर उसका उपयोग आपेक्षिक रूप से निराकार का होता है। इस दृष्टि से अरिहन्त अवस्था निराकार हो जाती है। विशेष रूप की जानकारी की दृष्टि से जब केवलज्ञान एवं केवल दर्शन का उपयोग लगाया जाता है तो वह अवस्था साकार रूप की स्थिति के साथ चलती है।

इस प्रकार अरिहन्त के नाम की स्थिति से दो विभाग हो जाते हैं। केवल ज्ञान युक्त स्थिति से जब शरीर में विराजमान रहते हैं, उस समय केवल ज्ञान के उपयोग की दृष्टि से अरिहन्त साकार होते हैं और अन्त में निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। सिद्ध अवस्था में पहुंच जाने पर शरीर छूट जाता है। दुनिया द्वारा देखा जा सकने वाला रूप तब विद्यमान नहीं रहता है। वह निराकार रूप हो जाता है जिसके अन्तर्गत दोनों स्वरूपों की उपलब्धि हो जाती है। सर्व विजेता अरिहन्त के रूप में और निराकार सिद्ध स्वरूप के रूप में आत्मा का सम्पूर्ण कर्तृत्व सम्पूर्ण रूप से सार्थक बन जाता है।

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व:

परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, तब इस विषय पर गम्भीर चिन्तन किया जाना चाहिये कि उन्होंने अपनी आत्मा के उस सम्पूर्ण स्वरूप को कैसे प्राप्त किया? इसका संकेत भी मिलता है कि ऐसी आत्माओं का विचार और व्यवहार अन्यो से भिन्न रहता है। संसारी आत्माएं जो अज्ञानवश क्रियाएं करती हैं, उनके कारण वे कर्मबन्धन करती हैं। किसी भी काम में मनुष्य जब प्रवृत्ति करता है तो प्रवृत्ति करते समय उसके कर्म बन्धन होता है। संसार के अन्दर रहने वाली आत्माएं जिन क्रियाओं का त्याग नहीं करती हैं, उन क्रियाओं को करती हुई वे कर्म बांधती रहती हैं। क्रूर से क्रूर कर्मों का बन्ध भी वे करती हैं। क्रूर से क्रूर क्रिया के माध्यम से जो कर्म बांधे जाते हैं, उनका वैसा फल भोग भी उनको लेना ही पड़ता है। जो चोरी करता है, चोरी का दण्ड भी उसी को भुगतना होता है। जो हिंसा पूर्वक पाप कर लेता है तो उस पाप के दण्ड का प्रसंग भी उसी के लिये आता है। ऐसे कर्म बांधते हुए तो आत्मा को विवेकयुक्त सावधानी नहीं रहती है, लेकिन जब फल भोग का समय आता है तब वह छटपटाती, हाय-हाय करती और उस फल भोग से बचने का प्रयास करती है।

ऐसी कठिन अवस्था में वैसी आत्मा भगवान् के समीप पहुंच कर यह प्रार्थना करती है कि हे प्रभु, मुझे क्षमा कर दो, मुझे पापमुक्त बना दो। क्या उस समय भगवान् क्षमा कर देंगे? भगवान् यदि इस तरह क्षमा करने लगे तो फिर दुनिया में किसी को पाप नहीं लगेगा, लेकिन दुनिया ने सस्ता सौदा अपना रखा है कि पाप कितना ही कर लें और फल भोग के समय प्रार्थना करके उससे छुटकारा पा लेंगे। ऐसा हो जाय तो फिर पाप करने में कौन पीछे रहेगा? जो पाप से छुटकारा पाने के लिये दूसरों से प्रार्थना करता है, वह व्यक्ति मात्र इस प्रकार की प्रार्थना से छुटकारा नहीं पा सकता है। जो पाप कार्य किया है और उसके कारण से जो उसके कर्म बन्धन हुआ है, उसका फल उसको अवश्य ही भोगना पड़ेगा तथा उन बन्धे हुए कर्मों का उपशम या क्षय भी वह करेगा तो वह अपनी ही साधना से कर सकेगा-

दूसरा कोई उसके कर्म बन्धन अथवा फल भोग को मिटा नहीं सकता है। यह आत्मा का अपना कर्तृत्व होता है और उसका फल भोग उसी आत्मा को करना पड़ता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ।

जिन आत्माओं ने अपने सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लिया तथा जो अरिहन्त और सिद्ध बन गईं, उन्होंने भी मानव शरीर में रहते हुए एवं गृहस्थ अवस्था में भी होते हुए स्वयं के पापों का फल स्वयं ही भोगा था। उनकी मान्यता रही कि जो कर्म उन्होंने किये हैं, उनका फल भी उन्हें ही भोगना है। उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा-यह वे आत्माएं जानती थीं। इसलिये उन्होंने उत्प्रेक्षा से मानों अपने कर्मों के फल भोग का आह्वान किया कि तुम आओ और अपना हिसाब चुकता करो। कर्मों को क्षय करने का यही पराक्रम उन्होंने दिखाया और भव्य आत्माओं को यह संकत दिया कि अपने आत्मिक पुरुषार्थ के बल पर ही स्वरूप शुद्धिकरण के बाद आत्मा की पूर्णता को प्राप्त कर सकेंगे। आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने का यही शाश्वत मार्ग है।

कर्म निर्जरा का परम आदर्श साधुचर्या:

सम्पूर्ण आत्मशुद्धि का मार्ग यही है कि पाप क्रियाओं का त्याग किया जाय और उस के लिये ससार का परित्याग करके साधुत्व का वरण किया जाय। यह साधु जीवन किस रूप में दीखता है? आप यह सोचते होंगे कि ये साधु बनकर आत्मा का कल्याण कर रहे हैं, लेकिन एक दृष्टि से देखा जाय तो साधु बनकर उन कर्मों को आह्वान करने का अभियान प्रारम्भ किया जाता है। यह आह्वान-यह बुलावा इस रूप में होता है कि अपने संयम और तप की साधना से कर्मों को क्षय करने का पराक्रम दिखाया जाय-कर्मों का कर्ज चुका दिया जाय। जैसे एक दुकानदार पर बहुतेरा कर्जा हो और वह महसूस करे कि मेरे अमुक परिश्रम से साधन सामग्री अर्जित की जा सकेगी तो वह अर्जन करना शुरू कर दे और ज्यों-2 अर्जित करता जावे त्यों-2 लेनदारों को बुला-2 कर कर्जा चुकाता जावे तो वह सारे कर्जों का भुगतान कर सकता है। वह सोचता है कि आज की सामग्री से कर्ज चुका दें सो ठीक वरना कल सामग्री भी नहीं रहे और कर्जा खड़ा रह जाय। वह अवधिपार और बिना अवधिपार दोनों तरह के लेनदारों को बुला-2 कर कर्ज चुका देता है तो वह प्रतिष्ठित साहूकार कहलाता है।

आज प्रायः क्या होता है? जैसा कि कभी-2 सुनने को मिलता है एक दुकानदार दुनिया भर से कर्जें ले लेता है और जब चुकाने का समय आता है तो थोड़ा रूप बदल देता है। अपनी सम्पत्ति को इधर-उधर करके दुकान के उल्टा ताला लगा देता है या दिवालिये की अर्जी दे देता है। और क्या-2 होता है-यह आप जानें, लेकिन वह अपनी प्रतिष्ठा खो देता है। एक कर्जदार के लिये यह व्यवहार कभी भी उचित नहीं कहलाता है। कर्ज को जो साहूकारी तरीके से चुकाता है, उसी के व्यवहार को शुद्ध माना जाता है। वैसे ही शुद्ध भाव से जब कर्मों का कर्जा चुकाया जाता है, तब सम्पूर्ण आत्मशुद्धि का कार्य सम्पन्न बन पाता है। प्रार्थना में कवि ने कहा है-

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, धननामी परनामी रे।

निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे ॥

अन्तिम पंक्ति है-करम करम फल कामी रे। इसका अर्थ है कि जो कर्म किये हैं, उनके फल की कामना की जाती है। साधु बनने पर पहला कदम इस दिशा में बढ़ाया जाता है। यह कदम होता है पाप क्रियाओं में अल्पता लाते रहने का। छः काया के जीवों की हिंसा का त्याग हो जाता है तो छोटे-2 जीवों की रक्षा होने के साथ-2 साधनामय वृत्तियों से कर्मों को अपना हिसाब चुकता करने का आह्वान किया जाता है। नंगे पाव चलने से पैरों में कांटे चुभते हैं, ऊबड़-खाबड़ जमीन पर चलने से छाले पड़ जाते हैं लेकिन उससे कर्म टूटते हैं-कर्मों की उदीरणा होती है। अपना वजन खुद उठाना, उग्र गर्मी और तीव्र शीत में विचरण करना, अपना कार्य स्वयं करना आदि काया को कष्ट देने वाली प्रवृत्तियों से मोह टूटता है और उस रूप में कर्मों का क्षय होता जाता है। इस प्रकार की जो साधुचर्या होती है, उससे कर्मों की निर्जरा होती है तथा आत्मा का शुद्धिकरण होता है।

भावना भव नाशिनी:

आत्मशुद्धि का कार्य भावना में परिवर्तन आने से प्रारम्भ होता है। यह परिवर्तन बुरी भावना से अच्छी भावना आने के रूप में होता है। आत्मा का अच्छा कर्तृत्व होता है तो फल भोग भी अच्छा आता है और बुरे कर्तृत्व का फल भोग भी बुरा होता है। जीवन में जब अच्छी भावना आती है तो प्रवृत्तियां भी अच्छी बनती हैं और पाप कर्मों का बन्धन घटता है। तब वहां साधना का जो पुरुषार्थ किया जाता है, उससे कर्मों का क्षय होता है, जिसके फलस्वरूप एक दिन आत्मा का पूर्ण शुद्धिकरण हो जाता है एवं अरिहन्त व सिद्ध का पद प्राप्त हो सकता है। सिद्धावस्था ऐसी होती है, जहां कर्तृत्व एवं फल भोग का क्रम ही समाप्त हो जाता है।

अच्छी भावना से अच्छा जीवन तथा बुरी भावना से बुरा जीवन-यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य भी है। मनोविज्ञान का जितना सा विकास हुआ है, उससे भी यह आध्यात्मिक विज्ञान सिद्ध है कि मनुष्य के समूचे जीवन पर उसकी भावनाओं का प्रधान रूप से प्रभाव होता है। शरीर पिंड पर भी भावनाओं का असर पड़ता है। बुरी भावना का शरीर पर भी बुरा असर होता है-रोग आदि व्याधियां पैदा होती हैं। वर्तमान में बुरी भावनाओं का शमन कर दिया जाता है यह समझकर कि यह पूर्वार्जित अशांत वेदनीय कर्मों का उदय है तो उस समता का जीवन और शरीर पिंड दोनों पर शुभ प्रभाव परिलक्षित होता है।

अच्छी या बुरी भावना के परिणामस्वरूप यथायोग्य कर्मों का बन्ध होता है और तदनुसार उन कर्मों का फल मिलता है। कोई भी भावना जब तीव्र बनती है तो उसका असर भी तत्क्षण होता है। एक व्यक्ति हर्ष की बात सुन लेता है तो सहसा उसकी भावना में हर्ष की लहर छा जाती है और उसके चिह्न शरीर पर भी दिखाई देते हैं। कभी हर्ष के अतिरेक से हार्टफेल भी हो जाता है। दुःख की बात सुनने से भी धक्के जैसा असर होता है। सनत्कुमार चक्रवर्ती की ही आपने कथा सुनी कि ऐसा-2 वृद्ध ब्राह्मण उनका रूप देखने के लिये आया है तो उनका मन अभिमान से फूल उठा। उस अभिमान का दुष्परिणाम तुरन्त उनके शरीर में ही प्रकट हो गया। जैसी भी भावना हो उसका वैसा प्रभाव होता है। प्रश्न यही है कि उस प्रभाव के समय विचारों का सन्तुलन रहे।

मन पर नियंत्रण:

वस्तुतः फल भोग कोई दूसरी शक्ति आत्मा को देती नहीं है, बल्कि अपने कर्मों से आत्मा स्वयं लेती है। अच्छा या बुरा फलभोग स्वयं आत्मा का कर्तृत्व होता है चाहे वह ज्ञानदशा में हो या अपने अज्ञान के कारण। कर्म बन्धन के बाद भी आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य के पुरुषार्थ से कर्मों को क्षय कर सकती है-उनका कर्जा पहले ही चुका सकती है तथा फलभोग के रूप को परिवर्तित कर सकती है। सामान्य रूप में एक आत्मा अपने ही कर्तृत्व के अनुसार फलभोग ग्रहण करती है। एक कवि ने इन्हीं भावों को काव्य में पिरोया है-

बोओगे जैसा बीज, तरु वैसा लहराएगा।

जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आएगा।।

कुए में एक बार कुछ भी बोल दीजिये,

बस जैसा कहोगे वैसा वह भी सुनाएगा।।

जैसा मनुष्य के शरीर में एक रोग पैदा होता है, उस समय वह रोग ही रोग के बारे में सोचता रहे और आतंकित बनता रहे तो रोग उस पर हावी हो जाता है। वैसी मनोदशा में रोग की पकड़ मजबूत हो जाती है। आतंकित मनोदशा स्वयं रोग और रोग विस्तार का कारण बन जाती है। इसके विपरीत रोग के होते हुए भी निर्भय मनःस्थिति बनी रहे तो रोग का अस्तित्व ही धीरे-2 समाप्त हो जाता है। इस मनोविज्ञान को आपको समझना चाहिये क्योंकि इस विधि से आप अपने वर्तमान जीवन को सुखी बना सकते हैं।

प्रायः सन्त लोग तो इस मनोविज्ञान को समझते हैं और अपने मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने का प्रयास करते हैं, लेकिन इस मनोविज्ञान के प्रति अधिकांश गृहस्थों की समुचित रुचि नहीं है। गृहस्थ वर्ग की रुचि का केन्द्र प्रायः तो कल्दार्म बना हुआ है-कल्दार अब नहीं, नोट हैं। लेकिन यह रुचि मन और आत्मा को कितनी अशांति पहुंचाती है-इसका अनुभव आपको शास्त्रीय श्रवण से करते हैं, फिर भी रुचि में परिवर्तन नहीं लावें-यह उचित नहीं है। आप अपने जीवन के निर्माता होकर भी अपने निर्माण की डोर को जड़ के हाथ में पकड़ाये रखें और उसे अपने हाथ में लेने की चेष्टा भी नहीं करें तो क्या यह शोभनीय अवस्था है? तात्त्विक बातों की तरफ रुचि लगायेंगे, ध्यान से सुनेंगे तथा उसे जीवन में उतारेंगे, तभी श्रेष्ठ भावना का निर्माण हो सकेगा और जीवन श्रेष्ठ स्वरूप में ढल सकेगा।

मैं तात्त्विक बात यह कह रहा था कि रोग के समय में रोगी की मनोदशा का उसके रोग के विस्तार या निवारण पर बड़ा प्रभावकारी असर पड़ता है। किसी को साधारण सा बुखार आ जाता है लेकिन अपने शिष्टाचार की ऐसी परिपाटी बना रखी है कि शाता पूछने जाते हैं और जो जाता है वही उसकी दुर्बलता का अतिरंजित वर्णन करता है जिसके कारण रोगी दुर्बल न होते हुए भी मानसिकता से दुर्बल हो जाता है और उसका रोग फैल जाता है। मनोबल के टूटने के कारण शरीर टूटने लगता है। स्व. आचार्य श्री फरमाते थे कि दक्षिण में एक सेठ को थोड़ी-सी बीमारी हुई और उनके डॉक्टर ने भारी शंकाएं घुसा दी जिनकी वजह से रोग बढ़ता ही रहा। कहने का अभिप्राय यह है कि मन की गति पर अपना नियन्त्रण रहे तो रोग का निवारण सहज हो जाता है। वास्तव में आत्मा ही अपनी निज शक्ति को समझ ले तो शरीर और मन की क्यो-स्वयं आत्मिक समस्याओं का भी सुन्दर समाधान निकाला जा सकता है।

भावना की सुदृढता:

जब किसी रोगी के पास शाता पूछने जावें तो यह कहना चाहिये कि यह क्या बीमारी है? कुछ भी नहीं है। यह तो शरीर है, रोग आता है और स्वस्थ होने की सुदृढ भावना रखे तो तुरन्त चला जाता है। ऐसी भावना से बहुत लोग अच्छे हो गये और आप भी शीघ्र अच्छे हो जायेंगे। जो लोग अच्छे हो गये उनका जिक्र करें और रोगी की भावना को मजबूत बनावें। यह बीमारी कर्मों के उदय से आई है और इन्हें शांति से सहन कर लोगे तो यह बीमारी भी चली जायेगी और आगे के लिये भी बीमारी के कर्मों का बन्ध नहीं होगा। तुम्हारी आत्मा ने ही कर्म बांधे हैं और तुम्हारी आत्मा ही सुन्दर स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकती है। रोगी के सामने ऐसा कहने से उसकी भावना में मजबूती आयेगी और सुदृढ भावना से उसका रोग निवारण शीघ्र हो जायेगा।

इस प्रकार रोगी की शाता पूछने का अभ्यास हो जायेगा तो आप रोगी का विशेष हित कर सकेंगे और सच्ची शाता पैदा करेंगे। मैं विशेष रूप से अपनी माता बहिनों से कहूंगा कि वे रोगी की भावना को हमेशा सुदृढ बनाने की चेष्टा करें। ध्यान रखें कि एक तरह की बात करने से कमजोर भावना वाले रोगी में भी मजबूती आ जाती है और दूसरी तरह की बात करने से उसकी मजबूत भावना भी कमजोर हो सकती है। शरीर के रोगों के साथ उसकी कमजोरी से उसको मानसिक रोग भी पैदा हो सकते हैं। स्वयं सनत्कुमार चक्रवर्ती की भावना विप्र द्वारा राज्यसभा में उदासी दिखाने से कमजोर हो गई थी। तब उनके सौन्दर्य को रोगग्रस्त बताकर उस विप्र ने उनके मन को कमजोर बना दिया। विप्र तो देव था उसी ने वैद्य बन कर उनकी कमजोरी को प्रमाणित कर दी। वे अपने अभिमान के शिखर से ठेठ नीचे गिर गये। वस्तुतः भावना का इस जीवन में सर्वाधिक महत्त्व होता है। वही भावना जब अपनी आत्मा के प्रति मुड़ गई तो फिर उनकी सुदृढता एक आदर्श बन गई। रोगमुक्ति की शक्ति पैदा हो जाने पर भी उन्होंने शरीर से अपना ध्यान हटा लिया और आत्म-कल्याण के पथ पर सुदृढता से वे आगे और आगे अन्तिम मंजिल तक बढ़ते ही गये। यह सर्वथा सत्य है कि सुदृढ भावना के सामने कोई भी शक्ति सफल नहीं हो सकती है।

आत्मा का चरम कर्तृत्व और मोक्ष का अमर फलभोग:

आत्मा की शक्ति असीम होती है और अपने सार्थक कर्तृत्व से वह उस शक्ति को प्रकट कर सकती है। शरीर में भी प्रकृति ने ऐसी शक्तियां दी है जो रोग निवारक होती हैं। आज भी स्वमूत्र चिकित्सा आदि के रूप में उसका प्रचलन है। तब के उत्कृष्ट कर्तृत्व की महिमा का क्या कहना।

आत्मा का चरम कर्तृत्व कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की उत्कृष्ट साधना की जाय और इसका फल भोग मोक्षरूपी आत्म लक्ष्मी की उपलब्धि के रूप में होता है। इसके बाद आत्मा का न कर्तृत्व रहता है और न फल भोग। वह अनन्त आनन्द में सदा-सदा के लिये तल्लीन बन जाती है। वह सिद्ध पद को प्राप्त कर लेती है। तब कर्मों का मल साफ हो जाता है और कर्म मल से शुद्धि ही इस कारण जीवन का प्रधान लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति जीवन की सुदृढ़ भावना एवं कर्मठ शक्ति पर निर्भर करती है। जीवन दृढीभूत होगा तो लोक-परलोक सब सुधर जायेंगे।

दि. 19-10-77

११११

14. भोग से योग की ओर

आज यहां बड़ी दीक्षाओं का प्रसंग उपस्थित हुआ है। बड़ी दीक्षा से तात्पर्य पक्की दीक्षा से हैं। दीक्षा के दिन सामान्य रूप से सावध योगों का सर्व प्रकारों से परित्याग कराया गया था। उस परित्याग के पश्चात् इस विषय में विशेष जानने की आवश्यकता थी और रहती है। इस आवश्यकता के अनुसार शास्त्रकारों ने एक परिपाटी बताई है। पहले और छेले(अन्तिम) तीर्थकरों को छोड़कर मध्य के 22 तीर्थकरों के समय में-उनके शासन में जब कोई दीक्षित होता था-मुनि धर्म अंगीकार करता था तो उसके मुनि जीवन में इतनी दृढ़ता होती थी कि एक बार जो मुनि बन जाता था, वह एकाएक विचलित नहीं होता। सामान्य रूप से जिस दिन दीक्षा पच्चक्खाई जाती थी और पाठ का उच्चारण करा कर कहा जाता था कि आज से जीवन पर्यन्त सब प्रकार के सावध व्यवहारों का सावध क्रियाओं का व सावध अनुष्ठानों का सर्वथा प्रकार से त्याग है-मन वचन काया से न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना तीन करण तथा तीन योग से। तब उसको वे इतनी मजबूत से हृदय में धारण कर लेते थे कि जीवन पर्यन्त अखण्डता से उसका निर्वाह करते थे और जीवन को पूर्ण उत्तमता से चलाते थे। चाहे अन्य कोई प्रेरणा देता या नहीं और चाहे कितने ही कठिन परिषर्हों अथवा उपसर्गों का प्रसंग आता, किन्तु उनकी विचार श्रेणियों में कभी भी विचलन का अवसर नहीं आता। वे अपने जीवन को जगत् के सामने ली गई प्रतिज्ञाओं पर अटल रखते। इसलिये उनके लिये दूसरी या पक्की दीक्षा का विधान नहीं रखा गया था।

तात्पर्य यह है कि बीच के बावीस तीर्थकरों के शासन में छेदोपस्थापनीय चारित्र्य नहीं था अर्थात् बड़ी दीक्षा का प्रसंग नहीं था।

बौद्धिक दृढ़ता की अवस्था तथा उसमें किंचित् दुर्बलता का प्रसंग-

बीच के बावीस तीर्थकरों के शासन काल में बौद्धिक दृढ़ता की अवस्था होती थी जिसके कारण एक बार दीक्षा पच्चक्ख ली तो उस पर दीक्षित जीवन पर्यन्त दृढीभूत रहता था। लेकिन पहले और छेले तीर्थकरों के शासन काल में बौद्धिक दृढ़ता के सन्दर्भ में कुछ दुर्बलता का प्रसंग था जिस कारण दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ विशेष किया गया। इन तीर्थकरों के शासन काल में साधक उन बावीस तीर्थकरों के साधकों की अपेक्षा कुछ दुर्बल होते थे और उनकी इस दुर्बलता का सम्बन्ध बुद्धि से था। अभी छेले तीर्थकर भगवान् महावीर का धर्म शासन वर्ष रहा है।

बौद्धिक दृष्टि से पहले तीर्थंकर ऋषभदेव के शासन में जो सन्त और सती वर्ग का प्रसंग था-वे बुद्धि की श्रेणी के अनुसार ऋजु जड़ थे। वे बहुत सरल और भद्रिक होते थे। जितना-सा उनको संकेत दिया जाता था, उतना-सा ही वे समझते थे-अधिक नहीं समझ पाते थे। उदाहरणार्थ एक नवदीक्षित सन्त एक बार शौचादि क्रिया से निवृत्त होने के लिये बाहर गया और पुनः विलम्ब से लौटकर आया तो गुरु महाराज ने देरी का कारण पूछा। वह इतना सरल था कि उसने सत्य-सत्य कह दिया कि रास्ते में एक नट नृत्य कर रहा था। तब गुरु ने उपालम्भ दिया कि साधु बन जाने के बाद नट का नृत्य नहीं देखना चाहिये। साधु जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिकता की साधना करना होता है-विकारों को जीतना होता है। बाहर के ये दृश्य जो नाटक आदि हैं, वे विकारों को बढ़ाने वाले हैं, क्योंकि नृत्य करने वाला पुरुष अपने अंग विन्यास द्वारा काम आदि विकारों को जगाता है और दुनियां को मोहान्ध बनाता है। इतना समझाने पर उस नवदीक्षित ने आगे से नृत्य न देखने का निश्चय किया।

साधु बनने का अर्थ ही सांसारिक विषयों से दूर हटना होता है। दुनियां के जो रोजाना के अभ्यस्त विषय होते हैं, वे प्राणियों को प्रिय लगते हैं और एक बार दीक्षा ले लेने के बाद में भी उस तरफ आकर्षण हो सकता है। नृत्य करने वाले भी दुनियां की परिपाटी के अनुसार दुनियां को खुश करने की कोशिश करते हैं और उसी ढंग से अंग विन्यास आदि करते हैं। इसके कारण देखने वालों के मन में जो विकारी भाव प्रसुप्त होते हैं, उस तरह के अंग विन्यास को देखकर वे भाव जागृत हो जाते हैं। तब जैसा देखा जाता है, वैसा ही अनुसरण करने की प्रवृत्ति बनती है। तो ऐसे दृश्यों को जो व्यक्ति देखना पसन्द करते हैं, वे भोगों की तरफ आकर्षित होते हैं, सांसारिक विषयों की दुर्दशा में फंसते हैं तथा मोहाविष्टता में रचपच जाते हैं।

बुद्धि की दुर्बलता का प्रसंग होने पर ऐसे दृश्यों का नवदीक्षित के मन पर भी कुप्रभाव हो सकता है। यही नहीं किसी भी प्रकार की संयम रखलना हो सकती है। न भी हो फिर भी छदोपस्थानीय चारित्र का विधान रखा गया कि पहली और दूसरी दीक्षा के बीच के समय में नवदीक्षित अपनी वैचारिक परीक्षा कर ले तथा अपने को जीवन पर्यन्त साधु धर्म का सुदृढ़ पालन करने के लिये संकल्प बद्ध बना ले।

भोग से योग की ओर-

साधु धर्म को अंगीकार करने का आशय है भोगों से मुंह मोड़ना एवं योग से नाता जोड़ना। जो भोगों से मुंह मोड़ लेते हैं तथा योग की तरफ मुंह कर लेते हैं, वे आत्म चेतना को जगाने तथा आत्म शुद्धि करने की दिशा में आगे बढ़ने के लिये अपना दृढ़ संकल्प बना लेते हैं। तब वे आत्म शुद्धि के बाधक तत्त्वों की तरफ कभी भी आकर्षित नहीं होते हैं।

उन ऋजु जड़ नवदीक्षित मुनि को भी जब उनके गुरु ने यह सब समझा दिया तो उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि अब वे नट का नृत्य नहीं देखेंगे। उन्होंने गुरु की बात को मजबूती से धारण कर ली। लेकिन उनकी बुद्धि में इतनी जागृति नहीं थी कि वे यह सोच पाते कि जैसे नट (पुरुष) का नृत्य देखने से भावों में विकार उत्पन्न हो सकते हैं। नट का नृत्य देखने से गुरु ने मना किया है तो नटनी का नृत्य देखने के लिये भी गुरु की अस्वीकृति है-वे इतना सा भी नहीं सोच पाते थे। दूसरे दिन वे नवदीक्षित फिर विलम्ब से आये, गुरु ने फिर देरी का कारण पूछा तो उसी सरलता से उन्होंने कह दिया कि वे नटनी का नृत्य देखने के लिये रुक गये थे। तब गुरु ने कहा-कल तो मैंने नृत्य देखने का मना किया था कि साधु को सांसारिक भोगों से दूर रहना चाहिये तो उन्होंने कह दिया-आपने तो नट का नृत्य देखने के लिये मना किया था, मैंने नट का नृत्य नहीं देखा। आपने नटनी का नृत्य देखने से मना थोड़े ही किया था? तब गुरु ने उन्हें भोग और योग के बारे में विस्तार से समझाया कि किसी भी सांसारिक प्रवृत्ति की तरफ यदि साधु मुड़ता है तो वह भोग की तरफ आकर्षित होता है और भोगों का उसने परित्याग कर दिया है। उसको तो योग में ही प्रवृत्ति करनी है। तब वे नवदीक्षित बोले-अब मैं इसको बराबर याद रखूंगा। वे प्रकृति से सरल थे लेकिन

बुद्धि की इस प्रकार की जड़ता थी। इसलिये ऋषभदेव भगवान् ने सोचा कि मैं अपने साधकों के लिये नियमों को संकुचित-संक्षिप्त कर दूंगा तो साधक समझ नहीं पायेंगे, इसलिये उन्होंने पांच महाव्रतों का निर्देश दिया। जबकि बीच के बावीस तीर्थकरों के समय में चार महाव्रतों की ही स्थिति थी। किन्तु इन चार महाव्रतों का पालन भी वे कठोरता पूर्वक करते थे। मौलिकता से इनमें कोई भेद नहीं होता।

भगवान् ऋषभदेव के युग में साधक ऋजु जड़ थे। जितना बतलाया जाता था, उतना ही पालन करते थे, लेकिन दूर तक नहीं समझते थे। इसलिये उन्होंने सोचा कि मेरे साधु एक बार कहने से समझ लेंगे, लेकिन उनकी समझ के विकास के लिये दूसरी बार दूसरी दीक्षा का विधान आवश्यक है।

एक बांध की पाल की तरह साधु आचार की सुरक्षा का प्रश्न-

ऐसी ही समस्या भगवान् महावीर के समय के साधुओं के विषय में भी उत्पन्न हुई। भगवान् महावीर ने सोचा कि इस समय के साधकों में भगवान् ऋषभदेव के समय के साधकों की अपेक्षा भी एक विशेष अन्तर है। ये साधक एक बार कहने से समझ तो लेंगे लेकिन बुद्धि विकृत होगी तथा तर्क-वितर्क करके गलियां निकालने की चेष्टा करेंगे। यदि शिष्य को निषेध किया जायगा कि नट का नृत्य नहीं देखना है तो वह समझ जायगा कि नटनी का नृत्य भी नहीं देखना है, लेकिन जब नटनी का नृत्य सामने आयगा तो उसे देखने के लिये तर्क पर आधारित कोई न कोई गली निकालने की कोशिश करेगा ताकि नृत्य भी देख लिया जाय और गुरु की आज्ञा भी रह जाय। वह ऐसी चेष्टा भी करेगा कि उल्टा गुरु में ही दोष निकाल दिया जाय कि उन्होंने यह कब कहा था कि नटनी का नृत्य मत देखना उन्होंने तो केवल नट का नृत्य देखने को ही मना किया था। नटनी का नृत्य देखने को भी मना कर देते तो नहीं देखता।

अपने समय के साधकों की इस प्रकार की प्रवृत्ति को अपने ज्ञान में देखकर ध्यान में रखकर भगवान् महावीर ने पांच महाव्रतों के पालन का निर्देश दिया और साथ ही यह भी कहा कि इन पांच महाव्रतों के बारे में पूरी व्यवस्था के साथ शिक्षा लेने के लिये सावध पचक्खाण कराने के बाद कुछ समय उसको अपने संकल्प को सुदृढ़ बनाने के लिये दिया जाना चाहिये। इस समय का निर्धारण उन्होंने कम से कम सात दिन, मध्यम चार माह तथा उत्कृष्ट छः माह का किया यानी कि इस दरमियान नवदीक्षित साधुचर्या से परिचित होकर अपने संकल्प को सुदृढ़ बना सके। जो केवल सात दिन में ही साधुचर्या को समझ ले, प्रतिक्रमण सीख ले तथा संकल्प को दृढ़ बनाले तो उसको आठवें दिन ही दूसरी यानी कि पक्की दीक्षा दिला देनी चाहिये। पहले जो सामान्य त्याग कराया था, उसको विशेष रूप से पांचों महाव्रतों का आरोपण करके विधिवत् इस साधना का अनुगामी पक्की दीक्षा से बना लेना होता है। इसी दिन से दीक्षा की वरीयता गिनी जाती है, पहली दीक्षा के दिन से नहीं। साधु जीवन के जन्म दिन की गिनती बड़ी दीक्षा के दिन से शुरू होती है। यह पद्धति भगवान् ऋषभदेव के समय में प्रचलित थी और आज भगवान् महावीर के शासन में भी प्रचलित है।

इसी पद्धति के अनुसार यह बड़ी दीक्षा का आज का प्रसंग है। जो कोई भी दीक्षार्थी दीक्षा लेकर अपने जीवन को आगे बढ़ाते हैं, वे प्रायः प्रतिक्रमण तथा आवश्यक ज्ञान तथा साधनाचार की स्थिति पहले सीख लेते हैं और अगर कुछ कच्चा रहता है तो सात दिनों में पक्का कर लेते हैं, इसलिये आठवें दिन सामान्यतः बड़ी दीक्षा का प्रसंग आ जाता है जैसा कि आज है। सोचने की बात है कि इस बड़ी दीक्षा के प्रसंग का उद्देश्य क्या है? प्राथमिक उद्देश्य स्पष्ट है कि जो साधु आचार ग्रहण किया गया है, वह जीवन में सुरक्षित रहे। जैसे बांध की पाल की सुरक्षा पर ही बांध का जल टिका रह सकता है, बल्कि पाल की किंचित् मात्र हानि भी पूरे बांध के लिये खतरा पैदा कर सकती है, उसी तरह साधु आचार में यदि थोड़ी भी शिथिलता आती है तो सम्पूर्ण साधु जीवन अस्त-व्यस्त एवं विकृत हो सकता है। इस कारण साधु आचार की सुरक्षा का प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

साधु जीवन का उद्देश्य परिपूर्ण आत्मशुद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति-

प्रधानतः साधु जीवन का उद्देश्य आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति कहा गया है। आत्मा विषय कषाय के सम्पूर्ण विकारों से सर्वथा मुक्त हो जाय। सभी प्रकार की कलुषित भावनाएं सदा के लिये निकल जाय तथा आत्मा सदा सर्वदा अपने निज के पवित्र स्वरूप में ही रमण करे। ऐसी अवस्था को प्राप्त करने का उद्देश्य इस दीक्षा का होता है। यह दीक्षा इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये साधन है। साधने का विषय जब सघटा रहता है तो साध्य की सिद्धि शीघ्रता से होती है। इस साधना के प्रसंग से पांच महाव्रतों का आरोपण है।

इन पांच महाव्रतों में सबसे पहला और महत्वपूर्ण महाव्रत है अहिंसा का महाव्रत। अहिंसा एक ऐसा व्यापक तत्त्व है-आत्म का मूल स्वभाव है कि जिसके पालन का प्रारम्भ जब भी शुरू किया जाय, इसका परिपूर्ण विकास एक प्रकार से आत्म स्वभाव का परिपूर्ण विकास होता है। दीक्षा के समय साधु प्रतिज्ञा लेता है कि वह सदा काल जीवन पर्यन्त सभी क्षेत्र, द्रव्य, काल, भाव के साथ अहिंसा महाव्रत का पालन करेगा, उस समय से वह महाव्रत प्रारम्भ होता है-वह परिपूर्ण नहीं बन जाता। उस परिपूर्णता को पाने के लिये उस समय से आहिस्ता आगे बढ़ना होता है। वह धीरे-2 अहिंसा की गति रीति को बढ़ावे इसके लिये शास्त्रकार निर्देश देते हैं कि बड़ी दीक्षा के बाद संकल्प दृढीभूत हो जाता है, इसलिये महाव्रतों के पालन की निष्ठा भी सुदृढ़ बन जानी चाहिये।

संकल्प और निष्ठा की इस दृष्टि से अहिंसा प्रत्येक साधक के जीवन में रम जानी चाहिये। अपनी ओर से किसी जीव को सताना नहीं और यदि कोई सता रहा है तो अपनी यथा शक्ति यथा मर्यादा प्राणी की रक्षा करना भी अहिंसा का ही अंग है बल्कि तभी अहिंसा परिपूर्ण बनती है। विधि और निषेध दो तरह की अहिंसा का प्रसंग होता है। अहिंसा को सिर्फ निषेध रूप में ही नहीं ले सकते हैं, क्योंकि वह अहिंसा का अधूरा रूप ही होगा। उसका विधि रूप उसको पूर्ण बनाता है। सिर्फ नहीं मारना ही अहिंसा है-वह बात नहीं है। अहिंसा के कई अर्थ हो सकते हैं। एक बच्चा है जो अभी अबोध है। वह किसी जीव की हिंसा करने का विचार नहीं कर सकता तो क्या वह अहिंसा व्रती हो गया? वह नहीं मार रहा है तो मारने के संकल्प में नहीं आता, फिर भी उसे अहिंसा व्रती नहीं कह सकते हैं। अहिंसा व्रत का रूप तभी आ सकता है, जब कोई मारने को भी समझता है और रक्षा करने को भी जानता है। मारने से निवृत्ति लेता है तथा रक्षा की दृष्टि से प्रवृत्ति करता है, तभी अहिंसा व्रत का सही रूप ढलने लगता है।

अहिंसा व्रत का वह भाव आध्यात्मिक रूप से निज का स्वभाव होता है। इसलिये जिस दिन यह महाव्रत अंगीकार किया जाता है, उस दिन यह सोचना है कि इस महाव्रत का स्वरूप मेरा निज का स्वरूप है। मेरी आत्मा की यह वास्तविक स्थिति है। मैं यदि इससे थोड़ा-सा भी विचलित होता हूँ तो वह आत्मा की भूल होती है। यदि कोई हिंसा का संकल्प भी आता है अथवा हिंसा के संकल्प का उपदेश भी होता है अथवा हिंसा के संकल्प का अनुमोदन भी होता है तो समझना चाहिये कि अन्य की हिंसा तो होगी तब होगी लेकिन अभी तो सबसे पहले मेरी हिंसा हो रही है। इस साधना की पहली दृढ़ता की बात यह है कि अपनी स्वयं की हिंसा नहीं करनी तथा दूसरों की हिंसा को भी रोक करके उन आत्माओं की निर्भयता बढ़ानी। अभय बनना और अभय बनाना-यह अहिंसा की दृष्टि है।

आत्मघाती हिंसा रूप तथा अहिंसा की परिपूर्णता-

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि-

पुरिसा तुमं सिणाय तं चैव जं हंतव्वंति भण्णसि ।

आचारांग सूत्र महावीर की प्रथम वाणी है और उसमें उन्होंने कहा कि हे पुरुष, तू जिस पुरुष को हनन के योग्य मानता है अर्थात् तू जिस अन्य पुरुष का हनन कर रहा है-मार रहा है, वह अन्य पुरुष नहीं स्वयं तू ही है और पहले तो तू अपने आप को मार रहा है। यह अद्वितीय जीवन हनन करने के लिये नहीं है। इस दृष्टि से उन्होंने आगे कहा-

**सर्वं भूयस्स भूयस्स सम्मं भूयाई पासणो ।
पिहिआ सर्वस्स वंतस्स पाव कम्मं न बंधई ॥**

अर्थात् तू सब प्राणियों को आत्मा के रूप में देखता हुआ चल। ध्यान रख कि यदि तू उनकी रक्षा कर रहा है तो अपनी निज की रक्षा कर रहा है। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा हो-यदि उसका हनन कर रहा है तो स्वयं अपना ही हनन कर रहा है। यह हिंसा परघाती बाद में होती है, पहले तो इसका रूप आत्मघाती होता है।

भगवान् का उपदेश है कि यदि तू साधु जीवन को अंगीकार करके चल रहा है तो तेरे जिम्मे सारा अहिंसा का कार्य है। यदि इस तत्त्व की ही तू साधना कर लेता है सर्व प्रकारेण साधना में तू आगे बढ़ता है। यदि तू अहिंसा के प्रचार के लिये हिंसाकारी साधनों को काम में लेता है तो ग्रहण किये हुए अहिंसा व्रत को भंग करता है। यदि साधु अपने जीवन में परिपूर्ण अहिंसा का लक्ष्य नहीं रखे और अपने जीवन की हिंसा से रक्षा नहीं कर पावे तो उसको अहिंसा का उपदेश देने का ही क्या अधिकार रहेगा? यदि साधु अन्य प्राणियों की घात का चिन्तन भी करता है अथवा अनुमोदन करता है तो समझिये कि उसने आत्मघात कर लिया है। आत्मघाती हिंसा का रूप सूक्ष्म रीति से समझना चाहिये।

आत्मा का घात करने वाली इस हिंसा के सम्बन्ध में साधु एवं श्रावक के लिये अलग-अलग विधान है। साधु की भूमिका हिंसा के परिपूर्ण त्याग की है, जबकि श्रावक महाव्रत का नहीं, अणुव्रत को अंगीकार करता है। साधु के लिये अहिंसा परम धर्म हैं-पहला महाव्रत है। यह अहिंसा साधु जीवन की नींव है-आधारशिला है। यदि आधारशिला ही कमजोर रहती है तो उसके साधु आचार के भव्य भवन का निर्माण नहीं हो सकेगा।

इसलिये आज जो इन नवदीक्षितों ने महाव्रत ग्रहण किये हैं, उनमें से पहले महाव्रत को भली प्रकार समझें कि कैसे छः काया के जीवों की हिंसा हो सकती है, कैसे उनकी रक्षा का प्रत्येक समय में विवेक रखा जाय तथा कैसे आत्मघाती हिंसा के रूप को समझते हुए अहिंसा की परिपूर्णता की ओर चरण बढ़ाये जाय?

निश्चक बनो-

कोई यह शंका प्रस्तुत करते हैं कि भगवान् महावीर ने तो ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदेश दिये फिर चौदह पूर्वों का सार गणधरों ने त्रिपदी में ग्रहण किया और उसके बाद वह लिपिबद्ध हुआ तो उसमें अन्तर आ सकता है। फिर दुष्काल में शास्त्रों का विच्छेद भी हो गया, तब कैसे कह सकते हैं कि शास्त्रों में भगवान् की मौलिक वाणी है? लेकिन इस प्रकार की शंका वे ही व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं, जिनका जीवन केवल बाह्य तत्त्वों में लगा हुआ है और जो भोगलिस हैं। जो अपने अन्तर्जीवन की तरफ दृष्टिपात नहीं कर सकते हैं, वे भला शास्त्रों के मर्म को क्या जान और समझ पायेंगे? शंकाशीलता का प्रधान कारण यह भोगलिसता होती है, लेकिन जिसने योग ग्रहण कर लिया है, उसका मन निःशंक बन जाना चाहिये।

जन्म से जिन्हें सुसंस्कार नहीं मिलते और जो पांचों इन्द्रियों के भोग विषयों में लालन-पालन, शिक्षा आदि के माध्यम से फंसते रहते हैं, वे भावना की अन्तरंग कसौटी को कैसे पकड़ सकते हैं और कैसे अपने जीवन की परीक्षा करते रहकर उसे परिपूर्ण अहिंसा के पालन की तरफ मोड़ सकते हैं? वैसे असंस्कारी व्यक्ति सभी बातों के लिये बाहर की कसौटी को काम में लेते हैं और उनके मस्तिष्क में एकांगी तर्क ही घूमते रहते हैं। जबकी वस्तुतः चिन्तन की धारा आन्तरिकता की गहराई में प्रवाहित होनी चाहिये। मनुष्य सोचे कि बाहरी जीवन ही सब कुछ नहीं है बल्कि भीतरी जीवन सजग नहीं है तो यह बाहरी जीवन कुछ भी नहीं है। भीतरी जीवन है तो बाहरी रौनक भी दिखाई देती है। आत्मा का अस्तित्व ही जीवन का मूल है। यदि आत्मा इस शरीर में से निकल जावे तब क्या शरीर क्रियाशील रहता है और तब उसे क्या कोई घर में रखता भी है? भीतरी जीवन को इस दृष्टि से समझना चाहिये, भीतर बाहर की एकरूपता के लिये भोगों से मुंह मोड़ना चाहिये और योग से नाता जोड़ना चाहिये।

जब कोई साधक योग साधना करते हुए भीतरी जीवन की जागरूकता के साथ चिन्तन के क्षणों में उतरता है एवं शास्त्रों के उपदेशों को अनुभूति के साथ ग्रहण करता है तो उसके अनुभव की एक नई श्रृंखला जुड़ जाती है और वह उस अनुभव के आधार पर अपनी साधना को उत्कृष्ट बनाने की तरफ आगे बढ़ जाता है। वह तत्त्वों का अनुसंधान करता है, ग्रहण करने योग्य तत्त्वों को तटस्थ भाव से ग्रहण कर लेता है तो भीतर ही भीतर उसकी शंकाओं का समाधान भी हो जाता है। तर्क में गिरने पर जिज्ञासा का हास हो जाता है और वस्तु विषय को समझने की सरल भावना नहीं रहती है। मैं तर्क के विरुद्ध नहीं हूँ। न ही तर्क का निषेध करता हूँ लेकिन तर्क के साथ जिज्ञासा भाव मजबूती से जुड़ा हुआ रहना चाहिये। इस अवस्था में शंकाशीलता समाप्त हो जाती है और निःशंक मन से योग साधना सम्पन्न हो सकती है।

जिज्ञासा के साथ सच्चा श्रद्धान हो-

जब योगी या साधु योग ग्रहण के बाद में शास्त्रों के तत्त्वों को अनुभूति के साथ समझने का यत्न करते हैं तो वे बाहरी तत्त्वों के स्वरूप को देखते हुए आत्मा की गहराई में उतर जाते हैं। उस आन्तरिक अनुभव के साथ जब वे भगवान् की वाणी को समझते हैं तब उसके मर्म को भी व पहिचान जाते हैं और उसको निःशंक मन के साथ अपने जीवन में कार्यान्वित कर लेते हैं।

शास्त्रों का इस विधि से अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करके देखें तो विदित होगा कि उनके उपदेशों से बढ़कर किसी काल में इस आत्मा के लिये अन्य उपदेश नहीं हो सकते हैं। शास्त्रों में विद्यमान ऐसे भव्य उपदेशों का लक्षण की दृष्टि से वर्गीकरण करें तो दशवैकालिक सूत्र के जो प्रथम चार अध्ययन हैं वह सभी शास्त्रों का एक दृष्टि से निष्कर्ष हैं। भगवान् महावीर की जितनी वाणी थी, उसके अनुसार पर्यायवाची शब्दों का बहुत विस्तार था। बारह काली दुष्काल में यह अवश्य हुआ कि ये पर्यायवाची शब्द बहुत कम रह गये। जो शास्त्र अवशेष रहे, उनमें इतने पर्यायवाची शब्द नहीं रहे लेकिन पहले के 200 नामों में से 5 नाम भी अगर कायम है तो 5 नामों से 200 पर्यायवाची नामों का अर्थ स्पष्ट ही जायेगा। अब भी जो मौलिक 11 अंग हैं, उनमें सारपूर्ण स्थिति विद्यमान है। इन 11 अंगों का निचोड़ भी दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों में है, बल्कि और संक्षिप्त रूप से लें तो इन चार अध्ययनों का सार भी प्रथम अध्ययन की पांच गाथाओं में भरा हुआ है। इसका भी संक्षेप लें तो प्रथम गाथा ही धर्म के सम्पूर्ण स्वरूप को परिभाषित कर देती है।

आगमवाणी को साधक तमेव सच्चंणीसंक...के सिद्धान्त के अनुसार अविचल भाव से श्रद्धा पूर्वक ग्रहण करे। और उनका यथाशक्य अध्ययन करे। दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों में ही आत्म कल्याण की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जायगी। शास्त्रकारों का संकेत है कि केवल पांच समिति और तीन गुप्ति का भी ज्ञान युक्त आचरण हो जाय तो मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिये प्रसंगवश मैं आपको बतला रहा था कि स्वार्थी और कुतर्की व्यक्तियों के चक्कर में भव्य जनों को नहीं आना चाहिये। उन व्यक्तियों की भावना को परखनी चाहिये कि उनका जीवन किस स्तर पर है? क्या वे छोटा-सा त्याग भी कर सकते हैं? क्या उनके जीवन में नैतिकता का अंश है? क्या वे स्वार्थ से ऊपर हैं या नामवरी तथा यश कीर्ति के स्वार्थ में डूबे हुए हैं? क्या वे अपने स्वार्थ के अनुसार कहते और चलते हैं अथवा सही मार्ग की पहिचान कर सकते हैं? इतने निष्कर्ष निकालकर किसी की बात को मानने या न मानने का निर्णय लें। ऐसी परीक्षा बुद्धि नहीं रखी तो आप अपने अज्ञान से पथ भ्रष्ट हो जायेंगे। परीक्षण से जब व्यक्ति का स्वार्थी होना सिद्ध हो जाय तो उस व्यक्ति की बात को सुनने का भी लक्ष्य नहीं रहना चाहिये। जो खुद के झौंपड़े में आग लगा कर बैठा है, वह दूसरे के झौंपड़े की आग को क्या बुझायेगा? इसलिये कम से कम योगी और साधु को ऐसे व्यक्तियों के चक्कर में कतई नहीं आना चाहिये तथा भगवान् की वाणी में निःशंक मन रख कर उस के अनुसार जीवन को चलाना चाहिये। ऐसे निःशंक मन और निष्ठापूर्ण आचरण से ही साधना सफलीभूत हो सकती है।

महाव्रतों के अनुपालन में श्रावकों को सहायता-

वीतराग देवों का निर्देश है कि साधु राग-द्वेष से परे रहे तथा आत्मीयता में रमण करे। पहले संसार के सभी प्राणियों को स्वयं आत्मवत् समझे। आत्मीयता का अनुभव तभी दृढ़ बन सकता है जब मन में राग-द्वेष की प्रबलता न हो। राग-द्वेष को जीतने की प्रक्रिया ही यह है कि अपनी आत्मा के लिये जो हितकर समझा जाता है, वैसा ही संरक्षण अन्य प्राणियों का किया जाय। यही भावना साधु के मन में रहेगी, तभी वह राग-द्वेष से परे हो सकेगा। इसी भावना के साथ अहिंसा महाव्रत का निष्ठापूर्वक पालन किया जाना चाहिये। साथ ही साधुचर्या याने ज्ञान ध्यान, साधना, भिक्षा आदि का पूरा विवेक रखा जाना चाहिये। जैसे गृहस्थी के घर में भिक्षा लेने गये और अंधेरा होने से गृहस्थ ने बिजली का बटन दबा दिया तो उससे तेऊकाया के जीवों की घात हुई। वहां साधु भिक्षा नहीं लेगा। अपने संरक्षण के लिये अन्य प्राणियों का हनन वह कभी भी सहन नहीं करेगा, क्योंकि वह छः काया का प्रतिपाल कहा जाता है और अहिंसा महाव्रत के परिपूर्ण पालन की दिशा में उसका चरण आगे बढ़ा हुआ होता है।

साधु को अहिंसा महाव्रत के पालन को परम धर्म मानते हुए अन्य महाव्रतों-सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का भी पूर्णतः पालन करना है अर्थात् छोटा से छोटा हंसी-मजाक का अकारण झूठ भी वह नहीं बोले, छोटी या नगण्य चोरी भी वह नहीं करे, काम वासना का भाव भी मन में नहीं लावे तथा सम्पूर्णतया परिग्रह का त्याग करके सच्चा निर्ग्रथ बने।

कोई भी सत्य वस्तुस्थिति तक आज पहुंचे, दस वर्ष बाद पहुंचे या दस लाख वर्ष बाद पहुंचे, लेकिन जब वहां पहुंचेगा, तभी उसे परिणाम प्राप्त हो सकेगा। यही कारण है कि जो सत्य पहले तीर्थंकर ने देखा, वही चौबीस तीर्थंकरों ने देखा तथा उसी सत्य की जिज्ञासा को लेकर साधु को साधनारत बनना चाहिये। लेकिन इस सत्य को प्राप्त करने की वास्तविक विधि भी आनी चाहिये। विधि का विस्तार बहुत है, लेकिन इस समय मैं इतना ही कहूंगा कि किसी भी दृष्टि से हिंसा का प्रयोग किया जाय-चाहे वह धर्म प्रचार के नाम से ही हो-तब भी साधु को उसका चिन्तन या अनुमोदन तक भी नहीं करना है। आज के भौतिक विज्ञान के युग में नल के पानी, माईक के प्रयोग, भिक्षाचरी आदि में कई प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं, लेकिन साधु को प्रत्येक क्षण अहिंसा को परम धर्म मानकर चलना है। सब से ऊपर अहिंसा को माना गया है, इसीलिए अहिंसा परमो धर्मः कहा गया है। इस परम धर्म के पालन में श्रावकों का पूरा सहयोग साधु को मिलना चाहिये ताकि साधु वीतरागी आत्मीयता की ओर गति कर सके।

साधना के पथ पर:

मैं क्या कहूँ-ये बातें ऐसी हैं कि कहता ही जाऊं और आप सुनते ही जावें क्योंकि समय पर बात अच्छी लगती है। इन बातों को केवल परलोक की न समझें। मैं वर्तमान जीवन की बात कर रहा हूँ कि साधु हों तो कैसे और गृहस्थ हों तो कैसे? इस प्रकार का विज्ञान ठीक तरह से जीवन में उतारने की चेष्टा करें तो वीतराग मार्ग पर पहुंचा जा सकता है। श्रेष्ठ साधु संतों की मैं कई बातें आपके सामने रख गया हूँ। कभी-2 उदाहरण भी देता हूँ कि लाखों करोड़ों औषधियों को मिलाकर एक बहुमूल्य औषधि बना ली जाती है। फिर उसमें से रत्ती भर औषधि ग्रहण की जाय तो उसमें उन लाखों करोड़ों औषधियों का सार आ जाता है, उसी प्रकार भगवान् की शुभ वाणी का सार दशवैकालिक सूत्र के चार अध्यायों और प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा में आया हुआ है जिसको भी यदि आत्मसात् कर लिया जाय तो जीवन मंगलमय हो जायेगा।

इन तरुण-तरुणियों ने संसार त्याग कर आज बड़ी दीक्षा ग्रहण की है तो इतने ऊंचे त्याग के समक्ष आप सबकी भावना में भी एक नई समुन्नतिदायक जागृति आनी चाहिये।

दि.21.10.77

१११

15. सौभाग्य एवं दुर्भाग्य का मूल कारण

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी.....

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुखी बनना चाहता है। अनादिकाल से उसकी यही इच्छा चली आ रही है। सुख की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम मनुष्य गति में आकर भी आज का मानव वास्तविक शांति प्राप्त नहीं कर पाया है। जब तक प्राणी का अनुसंधान यथार्थ दिशा में नहीं होगा तब तक वह सच्ची शांति को उपलब्धि नहीं कर सकता। इष्ट या अनिष्ट फल की प्राप्ति प्राणी के स्वयं के कर्मों से पर निर्भर होती है।

शुभ कर्मों का शुभ फल, अशुभ कर्मों का अशुभ फल तथा क्रूर कर्मों का क्रूर फल भोगना ही पड़ता है।

सौभाग्य एवं दुर्भाग्य की खोज मन की परतों में-

यदि मनुष्य अपने वर्तमान सौभाग्य एवं दुर्भाग्य के कारणों की खोज करले-उनके हेतु का पता लगा ले तो उसके जीवन की सभी समस्याओं का समाधान सुलभ बन सकता है। लेकिन यह मनुष्य वास्तविक कारणों की खोज करने में ही कमजोर रह जाता है और इस कमजोरी का भी कारण यह है कि वह दीर्घकाल से दुःखों की चोटें खा खा कर एक तरह से हताश और कायर बन गया है। उसकी मनः स्थिति इतनी निर्बल बन गई है कि जिसके फलस्वरूप वह कुछ भी महत्वपूर्ण खोज नहीं कर पा रहा है।

स्वाभाविक है कि एक छोटा बच्चा बड़ा चंचल और उद्वण्ड भी होता है लेकिन उस बच्चे के मन में बड़ा बल रहता है। मनःस्थिति की प्रबलता से ही वह चंचल और उद्वण्ड बनता है। उस के संरक्षक उसके मन की उद्वण्डता को सही विज्ञान के साथ न मिटा कर जब असभ्य तरीके से और ढंग से मिटाने की कोशिश करते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया उसके जीवन को बीगाड़ने वाली बन जाती है। उस के संरक्षक उस बच्चे की उद्वण्डता को डंडे के जोर से मिटाना चाहते हैं किन्तु उससे उसकी उद्वण्डता कम न होकर अधिक बढ़ जाती है। बार 2 डंडा पड़ने से उसका प्रबल मन एकदम कमजोर पड़ जाता है। तब वह शरीर की शिथिलता और मन की शिथिलता दोनों बुराइयों का शिकार बन जाता है।

जैसे इस बच्चे पर डंडा पड़ा और डंडे की मार से उसका शरीर और मन शिथिल हुआ तो इसका कारण क्या था? पिता ने या संरक्षक ने अपने ही बच्चे को पहिचाना नहीं, उसने उसकी आन्तरिक शक्ति का अनुसंधान नहीं किया। बच्चे की मनःस्थिति एक दृष्टि से जीवन के लिये शुभ सूचक थी, सिर्फ उसका बहाव गलत रास्ते पर हो रहा था। उस बहाव को रोककर उस शक्ति को सही रास्ते पर चलाने की समस्या थी जिसका पिता ने निदान नहीं निकाला और उसने उल्टा प्रयोग किया, जिसके कारण बच्चे की शक्ति ही शिथिल बना दी गई। यदि सही निदान निकाला जाता और सही प्रयोग किया जाता तो वही उसकी मनःस्थिति उसके जीवन को उभारने वाली शक्ति बन जाती। बड़े से बड़ा कार्य मन की दृढ़ शक्ति से ही हो सकता है। स्वाभाविक तौर से ऐसा दृढ़ मन मिलता है लेकिन उसको दृढ़ बनाये रखने का विज्ञान नहीं मिलता है तो वह दृढ़ मन उल्टे रास्ते पर चल पड़ता है। वह दृढ़ मन उद्वंड हो जाता है, फिर उसका निदान सही ढंग से नहीं होता है तो वह कमजोर बन जाता है। तब वैसा कमजोर मन अपने दुःख के कारणों को खोज नहीं पाता है। वह अपने सौभाग्य एवं दुर्भाग्य की सही खोज कर सकने में असमर्थ बन जाता है और कर्म की परतों को समझ नहीं पाता है।

डंडे के बल से आत्मा और मन का दमन-

डंडे का बल भी अपने आप में एक उग्र बल होता है, लेकिन घातक बल होता है। पिता के डंडे को देखकर बालक भी चुपचाप हो जाता है। बड़े से बड़े खूंखार प्राणी को भी डंडे के बल पर नचाया जाता है। सर्कस का शेर जब

तक सर्कस के लिये पकड़ा नहीं जाता तब तक जंगल में कितना बलवान होता है, लेकिन सर्कस में दाखिल करके उसको डंडे के असर से कैसा आज्ञाकारी बना लिया जाता है? सर्कस वाले समझते हैं कि उन्होंने सिंह पर सत्ता पाली-उसको वश में कर लिया, लेकिन यह नहीं समझते समझता है कि उसने अपने उद्धण्ड बालक को डंडे से ठीक कर दिया है लेकिन वह यह नहीं समझता कि उसने अपने अज्ञान से अपने ही पुत्र के मन का दमन कर दिया है और उसके जीवन को निरर्थक बना दिया है।

पिता यदि अपने पुत्र को विवेकपूर्ण रीति से वश में करता तो वह अपने पुत्र के जीवन निर्माण में सहायक बन जाता। उसको वश में करना था तो उसको अनुकूल तरीका अपनाना चाहिये था। उससे बच्चा कुछ का कुछ हो जाता और अपने जीवन की समस्याओं को आसानी से हल कर लेता। विरले पिता ही इस प्रकार का चिन्तन कर पाते हैं तथा अपनी सन्तान के यथार्थ रूप में हितैषी बन पाते हैं।

जैसे बच्चे और सिंह की स्थिति का प्रसंग है वैसे ही इस आत्मा की स्थिति का भी प्रसंग है। यह आत्मा अपने स्वभाव से बड़ी ही बलवती होती है। आत्मबल इस संसार में इतना जबरदस्त बल माना जाता है कि इसके मुकाबले का और कोई दूसरा बल नहीं है। सारे संसार की सारी भौतिक शक्तियां एक तरफ है और एक अकेले का आत्मबल दूसरी तरफ रह कर उन सारी शक्तियों से सफल संघर्ष कर सकता है। लेकिन इस आत्मिक शक्ति पर अनादिकाल से एक डंडे का क्रूर प्रहार होता आया है और उस डंडे के बल से वह शक्ति शिथिल होती चली आ रही है। यह डंडा है क्रूर कर्मों का डंडा, जिसके क्रूर फल के कारण आत्मा का दमन होता रहा है। दमन की मार में आत्मा कमजोर होती रही है। आत्म शक्ति दबती रही है जिससे मन भी कमजोर होता रहा है-उसका शरीर कमजोर होता रहा है। ऐसी कमजोर आत्मा हताश और कायर बन कर आज अपने सौभाग्य को बनाने के मार्ग का अनुसंधान नहीं कर पा रही है।

क्रूर कर्मों का डंडा और आत्मा का परिणामन-

क्रूर कर्मों का डंडा इस आत्म शक्ति पर चोटें करता आ रहा है और उसको कमजोर बनाता आ रहा है। इस दशा में आत्मा से शक्ति-प्रयोग नहीं बन पड़ता है और आत्म शक्ति को सही निर्देशन भी नहीं मिल पाता है। उसी का दुष्परिणाम इस रूप में सामने आता है कि वह आत्म शक्ति या तो कमजोर होकर निष्क्रिय हो जाती है या गलत रास्ते पर चलकर उद्धण्ड बन जाती है। आत्म की उद्धण्डता का अर्थ है इसकी विकारपूर्ण अवस्था। कोई व्यक्ति इसको दबाने वाला मिला या नहीं मिला, लेकिन क्रूर कर्मों के डंडे ने अपने क्रूर फल से इसको दबा दिया। आत्मा की जितनी प्रबल शक्ति उद्धण्ड रास्ते पर बही, उतनी ही प्रबलता के साथ क्रूर कर्म आकर आत्म स्वरूप के साथ संयुक्त हो गये। इन क्रूर कर्मों के परिणाम स्वरूप वैसे ही क्रूर फल को भोगने का इस आत्मा के लिये प्रसंग आया। इस आत्मा ने कर्मों का दंड भोगते हुए बड़ी-बड़ी क्रूर यातनाएं सही और अच्छे संयोग के अभाव में क्रूरता का रूप धारण करती रही।

उद्धण्डता में यह आत्मा क्रूर कर्म करती रही और क्रूर फल की दशा में यह अपनी शक्ति को कमजोर बनाती रही। यह आत्मा महान् पापकारी महारंभ के काम करती रही और पन्द्रह कर्मादानों का सेवन करती रही। उनके कारण बंधे क्रूर कर्म इस आत्मा को नचाते रहे। बुरे रास्तों पर पड़कर इस आत्मा ने महा आरंभ किया, महा परिग्रह रखा, अत्यधिक तृष्णा की और पर पदार्थों के साथ मूर्खाभाव बनाया। इसने सिकन्दर सम्राट जैसी बनकर भी न जाने कितने अत्याचार किये? सिकन्दर नाम का व्यक्ति एक ही हुआ, लेकिन वैसे कार्य करने वाली आत्माएं अनेक हुई होंगी। जिन क्रूर कार्यों से निकाचित क्रूर कर्मों का बन्ध हुआ जिनका उदय इस जन्म में भी हो सकता है तो अवधि के अनुसार आगामी जन्मों में भी हो सकता है। कर्मों का फल किसी न किसी रूप में तो आत्मा को भोगना ही पड़ता। अत्यधिक पुण्य का फल भोग करने के लिये आत्मा देवलोक में जाती है तो अत्यधिक पाप का फल भोग करने के लिये आत्मा नरकगति में भी जाती है।

क्रूर कर्मों का क्रूर फल-

नरक गति के अन्दर जन्म लेने की प्रक्रिया मनुष्य के जन्म लेने जैसे नहीं होती है। मनुष्य तो माता की कुक्षि से जन्म लेता है, लेकिन नरक में कुंभियां बनी हुई होती हैं। उन कुंभियों में जाकर आत्मा उत्पन्न होती है। इसकी कल्पना के लिये आप थोड़ा रूपक ले लें। अफीम का डोडा कभी आपने देखा है? यह जब सूख जाता है तो इसमें से तिजारे के दाने निकलते हैं। यह डोडा अन्दर से सिकुड़ा होता है और छोटी-2 धारियां निकली हुई होती हैं। इस प्रकार तथा अन्य प्रकार से भी नरक की कुंभियां होती हैं। जिनमें तेज तलवार की सी धारियां बनी हुई होती हैं। क्रूर कर्म करने वाली आत्मा इन कुंभियों में जाकर के जन्म लेती हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में याने कि अड़तालीस मिनिट के भीतर-भीतर नारकीय का शरीर इतना फूल जाता है कि उन तीक्ष्ण कुंभियों में से कटता-2 भयंकर कष्ट पाता हुआ बाहर आता है। उस समय भयंकर वेदना होती है तथा नेरियों का एक साथ करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है। उस आवाज को सुनकर परमधामी देव जो वहां नेरियों को यातनाएं देने के लिये तैनात नहीं होते हैं, लेकिन कौतूहल वश एकत्रित हो जाते हैं और अपने मनोविनोद की दृष्टि से नेरियों को तरह-तरह की यातनाएं देकर क्रीड़ा करते हैं। इन क्रीडाकौतुकों से नारकीय जीवों को अपार वेदना का अनुभव होता है।

ये परमधामी देव नारकीय जीवों को पुनः 2 कुंभियों में डालते हैं और पुनः 2 निकालते हैं जिससे तीक्ष्ण धारों से उनके शरीर कटते व चिरते रहते हैं। परमधामी देव उस दर्द के मजे लेते हैं और नेरियों को याद भी दिलाते रहते हैं कि तू ने मनुष्य के रूप में पशुओं पर छुरे चलाये थे, अब अनुभव कर कि छुरे की वेदना कैसी होती है? नाना विध नारकीय जीवों को निरन्तर यातनाएं मिलती रहती हैं। क्रूर कर्म करते समय तो मदहोशी रहती है लेकिन इनका जब क्रूर फल भुगतना पड़ता है तब सारी वेदना का पता चल जाता है।

आप सोचते होंगे कि ये परमधामी देव बिना उनके कर्तव्य के भी नारकीय जीवों को इस प्रकार कष्ट क्यों देते हैं? उनका कष्ट देना स्वाभाविक है। आपने कभी राजाओं का जमाना देखा होगा। राजा लोग मनोविनोद के लिये पशुओं की लड़ाई कराते थे और उसे देखकर खुश होते थे। आजकल भी बीकानेर में गोधों को लड़ाया जाता है और लोग लड़ाई देखकर खुश होते हैं। वे लड़ते-2 लहलुहान हो जाते हैं-सींग टूट जाते हैं और लोग तमाशा देखते हैं। वैसे ही परमधामी देव उन नेरियों को कष्ट दे देकर- लड़ा-2 कर उनके बहते हुए लहू का तमाशा देखते हैं। कहीं पर परमधामी देव नहीं जाते हैं तो वहां स्वयं नेरिये ही कुत्तों की तरह आपस में लड़ते और कट मरते हैं। आत्मा इन यातनाओं की मार खा खाकर जैसी भी पहले थी उस आत्मिक शक्ति को भी भूलकर दब जाती है और इतनी दब जाती है कि उसको निजत्व का भान ही सही नहीं रहता है।

क्रूर कर्मों का फल नरक गति में भुगतना पड़ता है तो पशु योनि में भी भुगतान करना पड़ता है तथा मनुष्य योनि में भी कई प्रकार से क्रूर फल के भुगतना आपको नजर में आते होंगे। इस प्रकार इन क्रूर फल की मार से आत्मा की अपनी शक्ति बहुत कमजोर हो जाती है। एक कमजोर आत्मा को दुःख आता है और वह सोचती है कि दुर्भाग्य अब मेरे साथ नहीं रहना चाहिये। उसको सुख पाने की कामना होती है और यह भी अभिलाषा जागती है कि वह सुख में रहे। फिर भी आत्मिक दुर्बलता के कारण वह सुख से रह नहीं पाती है। इसलिये भी नहीं रह पाती कि दुःखों के कारणों को खोज लेने की क्षमता उस आत्मा की कमजोर पड़ जाती है।

ऐसी कमजोर आत्मा जब इस प्रकार से कायर होकर संसार में रहती है और उसको कोई ज्ञानी सम्बोधन देता है कि अरी आत्मा तू कमजोर क्यों बनी है? तेरे में भी वैसी ही शक्ति है जैसी परमात्मा की शक्ति होती है तो उस आत्मा को जागना चाहिये, दुःखों के कारणों को खोजना चाहिये तथा उन कारणों को सदा के लिये दूर कर देने के प्रयत्नों में अपने सकल पुरुषार्थ को लगा देना चाहिये।

मनोबल कैसे बढ़े-

कमजोर को सहारा चाहिये, इसलिये ऐसी कमजोर आत्मा को जब सहारा मिले तो उसको उठ खड़ी होना चाहिये। सहारा ढूँढना भी चाहिये और सहारा पाकर उस कमजोरी को दूर करने का संकल्प भी बना लेना चाहिये।

मुख्य रूप से कमजोर को जिस सहारे की जरूरत होती है, वह सहारा होता है विश्वास का। विश्वास के माध्यम से मन की मजबूती पैदा हो जाती है और मन की मजबूती के साथ किसी भी शक्ति से संघर्ष झेला जा सकता है। यह विश्वास सही तरीके से जमे और मन में अटूट साहस भर सके तो वह विश्वास जीवन संचालन का बहुत सम्बल सिद्ध हो सकता है। विश्वासोत्पादन की प्रक्रिया को भी समझ लीजिये। छोटी आयु में बच्चे का मन बड़ा विश्वासी होता है लेकिन अपनी संस्कारहीनता के कारण कई माताएं रोते हुए बच्चों को चुप कराने के लिये उनके मन में तरह-2 के भय घुसो देती हैं। अपने स्वार्थ के कारण एक मां डराती है-अरे चुप होजा, नहीं तो यह भूत खड़ा है, इसको तुझे पकड़वा दूंगी। मां में विश्वास होने के कारण बच्चा भूत में विश्वास करने लग जाता है और एक तरह से गलत विश्वास को पकड़ लेता है। यदि उस घर में पिता विवेकशील हो तो वह इस तरीके से बच्चे को समझाता है कि उसका भूत पर से गलत विश्वास भी उठ जाय और उसका माता के ऊपर भी विश्वास बना रहे। वह बच्चे को कहता है-समझिये कि नवकर मंत्र सिखाकर बताता है कि इस मंत्र का जाप करने से बड़े से बड़ा भूत भी भाग जाता है। तब बच्चे का कमजोर बना दिया गया मन उस मंत्र के सम्बल से फिर मजबूत हो जाता है और उसका विश्वासोत्पादन सही लीक पर चलने लगता है।

माता पिताओं के लिये ये ध्यान में रखने की बातें हैं, जो छोटी-2 हैं मगर ये एक जीवन को बना या बिगाड़ सकती है। आप अपने बच्चे का हित चाहते हैं लेकिन अपने अविवेक से उसका भारी अहित कर देते हैं। बच्चे के मनोबल को हमेशा बढ़ावा देना चाहिये क्योंकि कमजोरी का सबसे बड़ा सहारा मनोबल होता है। विश्वास के आधार पर मनोबल टिका रहता है।

मन की मजबूती से दुःख के कारणों की खोज-

मनोबल की मजबूती से आत्मा में सजगता आ जाती है। दुःखों के कारणों को ढूँढने में इसी सजगता की आवश्यकता होती है। दुनिया की स्थिति को देखें-जहां शरीर में बल है या आयु 80-100 वर्ष की हो गई है तो उस व्यक्ति को बड़ा मान लेते हैं लेकिन यह मानकर चलिये कि जिसका मनोबल मजबूत नहीं है, वह शरीर बल और आयु के बावजूद भी बच्चा ही माना जायगा। जिस प्रकार दुःखों से उसका मन कांपता है, वह उसकी नादानि का भय का संस्कार होता है। ये आत्मा के अनादिकालीन मलिन संस्कार होते हैं, जिन्हें मिटाये बिना मनोबल मजबूत नहीं बन सकता है।

मनोबल मजबूत बनता है-ज्ञानीजनों के जागृत सम्बोधन से तथा उनके वचनों के प्रति अमिट विश्वास से। ज्ञानी जन सम्बोधित करते हैं- हे मनुष्य, क्यों तू दुःख और दुर्भाग्य से डरता है? तेरा भय योग्य नहीं है। यदि तुम डरोगे तो भय ज्यादा भयभीत करेंगे। तुम अपने मनोबल को मजबूत बनाओ और साहस को जुटाओ-देखो अपने हृदय में परमात्मा को आसीन करो, भगवान् को अपना स्वामी बना लो तो तुम भी परमात्मा और भगवान् बन जाओगे। यदि ज्ञानीजनों के वचनों पर विश्वास करके भव्य जन अपनी दबी हुई आत्म शक्ति का विकास साधते हैं तो दुःखों के कारणों का भी पता चल जायगा और दुःख भी दूर हो जायेंगे।

प्रार्थना में संकेत दिया गया है कि-

दुःख दोहग्ग दूरे टल्यौ रे, सुख संपद सूं भेंट।

धींग घणी माथे कियो रे, कौण गजे नर खेंट।

हे भव्यों, जब भगवान् जैसा महाबली स्वामी तुम्हारे शीर्षस्थल पर है तो अब तुम्हें कौन व्यक्ति दुःखित बना सकता है? अब तो सारे दुःख दूर हो जायेंगे और सुख सम्पत्ति मिल जायगी। आत्मा स्वयं परमात्मा के स्वरूप को

अपने में समेटे हुए हैं। इसलिये भगवान् सारे शरीर के अणु अणु में व्याप्त है। ऐसी भावना जब बन जाती है, तब मनुष्य से फिर एकाएक पाप कार्य नहीं होता है। जो मनुष्य यह सोच ले कि भगवान् मेरे पास विराजमान है तो फिर भगवान् की साक्षी से क्या कोई पाप कार्य करेगा? भगवान् की साक्षी से मनोबल मजबूत बन जायगा और तब दुःखों के कारणों की खोज आसानी से हो सकेगी।

भगवान् को साक्षी बनाओ-

जब तक सांसारिक कार्यों में आप क्रूर कर्म करते जा रहे हैं, तब तक समझें कि आप कहे कुछ भी, लेकिन आप भगवान् की साक्षी को नहीं मानते हैं और भगवान् पर आपका अन्तःकरण से विश्वास नहीं है।

कल्पना करें कि एक दुकानदार बहुतेरा माल बेचने के लिये बैठा हुआ है। ग्राहक कई तरह के आ रहे हैं और उनमें भोले भद्रिक ग्राहक भी आ रहे हैं, जिनके कारण ऐसा अवसर भी आता है कि दुकानदार थोड़ा माल देकर ज्यादा पैसे भी ले लेता है। वह कम नाप, कम तौल की सारी कलाबाजी जानता है। लेकिन संयोगवश वहां एक सरकारी अधिकारी आ जाता है और ईमानदार है। यदि वह अधिकारी भी दुकानदार की तरह बेईमान होता तो काम पट जाता। अधिकारी भी आजकल व्यापारी हो गये हैं सो कानून कायदे ताक में रख कर व्यापारियों के साथ ऐसे घुल मिल जाते हैं कि परस्पर काफी पोषण कर लेते हैं। ये दोनों वर्ग मिलकर देश के प्रति क्रूर कार्य कर रहे हैं।

अब जब बेईमान व्यापारी का ईमानदार अधिकारी से पाला पड़ जाता है तो वह सोच में पड़ जाता है कि यहां घूस से काम नहीं चलेगा। वह पकड़ा जायगा तो जेल में डाल दिया जायगा। कहने का अभिप्राय यह है कि ईमानदार अधिकारी हो तो व्यापारी खुद सम्हल कर चलेगा-वह बुराई की तरफ नहीं मुड़ेगा। इसी तरह भगवान् पर विश्वास करके अगर भगवान् को साक्षी मानलें तो क्या फिर बुराई की तरफ मुड़ने की भी इच्छा होगी? इसलिये आप अपने दिलों को टटोलें और स्पष्टता से देखें कि वहां पर भगवान् का विश्वास और उनकी साक्षी है क्या? यदि है तो चाहे व्यापार हो या अन्य कार्य आप कभी भी क्रूर कर्म नहीं कर सकेंगे। और यदि आपसे क्रूर कर्म होते हैं तो समझिये कि भगवान् का विश्वास और उनकी साक्षी पक्की नहीं है या उसकी भ्रान्त धारण लेकर अपने मन को बहलाए हुए हैं। इसलिये भगवान् के विश्वास को पक्का बनावें और उन्हें महाबली स्वामी के रूप में अपने सिर पर रखें। इस स्थिति में जब वास्तविकता आयगी तो आप स्वतः ही क्रूर कर्मों से विलग हो जायेंगे।

सुख दुःख का सर्जक स्वयं-

चाहे दुःख और दुर्भाग्य आ रहा है अथवा सुख और सौभाग्य का सृजन हो रहा है तो इन दोनों स्थितियों का कारण मैं ही हूँ-यह मनुष्य को समझना चाहिये। यदि चिन्तनशील मनुष्य सोच ले कि भगवान् अपने अन्दर में रमे हुए हैं तो वह क्रूर कर्म नहीं करेगा और क्रूर कर्म नहीं करेगा तो क्रूर फल नहीं मिलेंगे, दुःख नहीं मिलेगा तथा सुख का संचार हो जायगा। लेकिन एक मनुष्य कहने की दृष्टि से तो भले ही भगवान् का भक्त कहलाता है लेकिन विश्वास नहीं है-सोचता है कि कहां है अन्दर भगवान्? अन्दर तो मैं ही मैं बैठा हूँ, तो उसके द्वारा क्रूर कर्म करने पर कोई नियंत्रण नहीं रहता है। वह कर्म बंधन करता है तो क्रूर फल भी उसको भोगना पड़ता है। किन्तु इस फल भोग के समय में भी यदि सावधानी और सदबुद्धि आ जाय और सोचने लग जाय कि मेरी आत्मा ही परमात्मा का रूप है तो उसके जीवन में शुभ परिवर्तन आ सकता है। वस्तुतः परमात्मा में जो अटूट विश्वास स्थापित होता है, वह अपनी निज की आत्मा के प्रति ही विश्वास है और आत्म विश्वास जीवन की सम्पूर्ण सफलता का मूलाधार होता है। यह आत्मविश्वास ही मैं की सुलझान है और तब यह मैं ही दुःख तथा दुर्भाग्य का कारण न रहकर सुख और सौभाग्य का कारण बन जाता है।

आत्मविश्वास के साथ जब मन में शुभभावना की वृद्धि होती है तो ढीले बन्धन वाले पूर्व के अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा दुर्भाग्य तब सद्भाग्य में बदल जाता है। वह सुख और सम्पत्ति की उपलब्धि का हेतु बन जाता है। इस

सद्भाग्य की प्राप्ति के लिये प्रत्येक भव्य आत्मा को अपने अन्तःकरण का अवलोकन करना चाहिये, विचारों का विश्लेषण करना चाहिये, तथा दृढ़ता के साथ मन में यह बात बैठानी चाहिये कि दुःख मेरी ही आत्मा के पर्याय हैं-इन्हें मैंने ही पैदा किये हैं और इन्हें समाप्त भी मैं ही कर सकूंगा। कहा है-

पूर्वजन्मकृतकर्म तद्वैवमिति कथ्यते

लोग कहते हैं कि तुम्हारे दुर्भाग्य का उदय है, इसलिये कुछ नहीं हो सकता। लेकिन समझें कि दुर्भाग्य कुछ नहीं होता है। पूर्व जन्म में बांधे गये कर्म ही इस जन्म में दुर्भाग्य कहलाते हैं- उनका फल भोगना पड़ता है तथा उनकी निर्जरा भी की जा सकती है। वर्तमान में जो शुभ कार्य किये जाते हैं, उनका शुभ फल अवश्य मिलेगा। तब सुख और सौभाग्य का साम्राज्य हो जायगा।

विलक्षण मुद्रिका-

एक सम्राट् था-बड़ा शक्तिशाली था। लेकिन उसके क्रूर कर्मों का कुछ ऐसा फल प्रकट हुआ कि चारों ओर अस्त व्यस्तता आ गई- महारानी बीमार और परिवार वाले उपद्रवी बन गये। वह चिन्ताग्रस्त हो गया। चिन्ता में इतना घुला कि सारी चिकित्सा व्यर्थ हो गई और वह शरीर तथा मन का रोगी बन गया। आखिर सम्राट् के प्रधान ने उसके मानसिक रोग की मानसिक चिकित्सा की। एक मुद्रिका (बीटी) बनाई जिस पर अंकित कराया-यह भी गुजर जायगी और राजा को मंत्र वाली बता कर पहिना दी। अब उसे चिन्ता सताती तो वह सोचता यह भी गुजर जायगी और वह निश्चिंत हो जाता। इस तरह वह स्वस्थ हो गया। स्वास्थ्य की कुंजी है आत्म विश्वास और आत्म कर्तृत्व की निष्ठा।

क्रूर कार्यों के क्रूर फल को समझकर क्रूर कार्यों से विलग होने की वृत्ति बननी चाहिये। यह वृत्ति मनोबल तथा आत्म विश्वास को पैदा करेगी। तब आत्मा सुख एवं सौभाग्य के लिये सतत संघर्ष करने को तत्पर बन जायगी। यह संघर्ष होगा अशुभता के विरुद्ध और शुभता के लिये। यह संघर्ष होगा कर्मों के विरुद्ध तथा उनकी निर्जरा के लिये। जितना यह संघर्ष सफल होता है, उतनी ही यह आत्मा सुख और सम्पत्ति की तरफ गतिशील बन जाती है।

दि.23-10-77

१११

16. साधुचर्या का निर्मल स्वरूप

विमल जिन दीठा लोयण आज.....

जीवन के निर्मल एवं विमल स्वरूप को प्रकट करने के लिये उसके अनुरूप ही भगवान् श्री विमलनाथ का पवित्र स्मरण, उनकी स्तुति एवं उनका ध्यान एक अपूर्व साधन है। इस वर्तमान युग के प्रायः मानवों के जीवन का जो कुछ भी रूपक तथा उसकी जैसी भी प्रक्रिया दृष्टिगत हो रही है, वह निर्मल नहीं है विकारपूर्ण है, क्योंकि इसका ध्यान मात्र उन पदार्थों और वस्तुओं की ओर लगा हुआ है जो अपवित्र हैं तथा अस्थिर हैं।

जिस शरीर की समीपता से यह आत्मा शरीर के ही साधनों को जुटाने के लिए तत्पर होती है-शरीर का ही पोषण करने की दृष्टि से जिन पदार्थों को एकत्रित करने की भावना लेकर चलती है, उन्हीं साधनों एवं पदार्थों को इस

आत्मा ने जीवन का सब कुछ प्राप्य समझ लिया है। वह यही समझती है कि शरीर का निर्वहन करने वाले इन पदार्थों के अलावा मेरा कोई संबल नहीं-कोई सहारा नहीं है। शरीर और शरीर के पोषक पदार्थ ही मेरा सहारा है और इन्हीं के आश्रय से मेरा जीवन है।

यह भावना भी एक दृष्टि से इस रूपी आत्मा के लिये योग्य कहला सकती है। शरीर पिंड के साथ रहने के कारण आत्मा का यह रूपी स्वरूप कहलाता है और जब तक आत्मा इस रूपी स्वरूप की दृष्टि से शरीर से संयुक्त होकर चलती है, तब तक शरीर पोषण के साधनों तथा पदार्थों की भी यह आत्मा आवश्यकता महसूस करती है। इस आवश्यकता को इस रूप में समझकर चलना बुरी बात नहीं है, लेकिन यह आवश्यकता तथा इसकी पूर्ति ही सब कुछ है- यह भूलभरी समझ हो जाती है। आत्मा को यही सोचना चाहिये कि जब तक शरीर के साथ संयोग है, तब तक इसकी धर्म साधना का साधन बनाना है और इस दृष्टि से उसका पोषण भी करना है लेकिन ममता रहित रहकर तथा इस शरीर की सहायता से ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करनी है।

इस शरीर को धर्म का साधन बनाने का सर्व श्रेष्ठ उपाय यह है कि साधु अवस्था अंगीकार की जाय, साधुचर्या के निर्मल स्वरूप को आत्मसात् किया जाय तथा कठिन चारित्र का पालन करते हुए इस शरीर की सार्थकता सिद्ध की जाय।

आत्म साधना की दिशा शरीर-साधन का उपयोग-

यद्यपि वर्तमान में सत्ता रूप में इस आत्मा का स्वरूप निर्मल कहलाता है, लेकिन सिर्फ सत्ता रूप से ही काम नहीं चलता। अभी इस आत्मा का स्वरूप तो शरीर और जड़ पदार्थों के साथ घुल गया है जिससे उसका स्वरूप मलिन और अपवित्र बना हुआ है। मूल का निर्मल स्वरूप मैल से रंग गया है। वह सत्ता रूप प्रकट नहीं हो रहा है। इसलिये आत्म साधना की दिशा पकड़ी जानी चाहिये और यह दृढ़ संकल्प बनाना चाहिये कि आत्मा का निर्मल एवं विमल स्वरूप जो वर्तमान में नहीं है, भविष्य में प्रकट हो जाय। इस आत्मा साधना की दिशा में प्रगति तभी हो सकेगी जब शरीर का धर्म-साधन के रूप में भरपूर उपयोग लिया जायगा।

भगवान् श्री विमलनाथ की प्रार्थना करके एक पंथ दो काज सिद्ध किये जा सकते हैं और इस तरह वर्तमान जीवन भी उलझन से निकलकर आत्मबल से युक्त बन जाय तथा भविष्य में इस आत्मा का स्वरूप भी उज्वलता से निखर उठे। यह दृष्टिकोण ज्ञानीजन रखते हैं और ज्ञानीजन अपने विचारों का वीतराग वाणी के आधार पर प्रतिपादन करते हैं। जहां शास्त्रीय दृष्टिकोण से शास्त्रकारों ने शरीर के साधन का संकेत दिया है, वहां शरीर के निर्वहन के लिये साधुचर्या की दृष्टि से आहारादि सम्बन्धी बातें भी बताई हैं जिनका पालन करते हुए आत्मा के पवित्र स्वरूप को प्रकट करने का पुरुषार्थ किया जा सकता है।

महावीर प्रभु की देशना में साधुचर्या के निमित्त से साधकों के लिये संकेत दिया गया है कि वे आहार आदि की चाहना तो रखें लेकिन किस विधि से उसे प्राप्त किया जाय उसके विवेक को भी सर्वोपरि समझें। कहा है-

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,सहायमिच्छे णिउणत्थबुद्धि ।

निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहि कामे समणे तवस्सी ॥

अर्थात् समाधि की कामना करने वाले तथा परम स्वरूप प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधुओं तथा साधकों को इस शरीर के साधन को ही काम में लेना होगा। और शरीर को काम में लेना है तो शरीर को आहार भी देना होगा, लेकिन आहार कैसा देना?

कहावत है कि खाने के लिये नहीं जीना है बल्कि जीने के लिये खाना है। इसी के अनुरूप साधक आहार को सब कुछ नहीं माने बल्कि उसे शरीर साधन को काम में ले सकने का माध्यम मात्र मानकर चले। इस शरीर को जो

आहार देना है, वह मित और ऐषणिक आहार देना है। ऐषणिक आहार का अर्थ है अन्वेषणयुक्त भोजन अर्थात् ऐसे भोजन की खोज तलाश की जाय जो निर्दोष हो, गृहस्थ के लिये भारस्वरूप नहीं बने तथा सबसे ऊपर वह आत्मा की शुद्धि एवं निर्मलता की वृद्धि करने वाला हो। यह पहले देखना चाहिये कि जिस भोजन से अशुद्धि बढ़ने की आशंका हो, उसको कतई ग्रहण नहीं किया जाय। पहले ही शुद्ध आहार के सम्बन्ध में अन्वेषण कर लिया जाय कि यह आत्म-साधना में सहायक बनेगा या नहीं, उससे शरीर का सम्यक् उपयोग लिया जा सकेगा या नहीं और जब सही प्रभाव का विश्वास हो जाय तभी ऐषणिक आहार लिया जाय और वह भी मित मात्रा में। सादा और निर्दोष भोजन तथा कम भोजन शरीर को धर्म-साधन के रूप में चलाता रहता है।

तन सेवा और तपस्या-दोनों साधुचर्या के अंग-

उपरोक्त गाथा में यद्यपि तन सेवा का संकेत है लेकिन तन सेवा के साथ तो उपलक्षण में इसका सम्बन्ध जुड़ता है। इसके साथ-2 अन्य सभी प्राणियों के लिये भी संकेत है कि जो भी आत्मा अपने आपको परम सुख की ओर ले जाना चाहती है, इस सूत्र के अनुसार अपने अन्तःकरण का अन्वेषण करना चाहिये तथा तन सेवा के स्वरूप को समझना चाहिये।

तन सेवा और तपस्या-दोनों को ही साधुचर्या के अंग माने गये हैं। तन को मित एवं गवेषणापूर्ण जो आहार देना है, वह भी उसकी सेवा है कि उसका धर्मसाधन के रूप में श्रेष्ठ उपयोग लिया जा सके। दूसरा अंग तपस्या और वह भी एक दृष्टि से तन सेवा ही है क्योंकि तपस्या से तन तपता है, उसका विकार दूर होता है तथा आत्म-शुद्धि के साथ उसका तेज भी बढ़ता है। जो तप करता है, उसे तपस्वी कहते हैं। तप के दो मुख्य भेद हैं बाह्य एवं आभ्यन्तर तथा दोनों के कुल मिलाकर बारह भेद माने गये हैं। अनशन, उणोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता आदि बाह्य तपों का साधक भी तपस्वी कहलाता है तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि आभ्यन्तर तपों के साधक को भी तपस्वी कहते हैं। अनशन तप उपवास, बेला, तेला, चोला, पचोला, अठाई, मासखमण आदि होते हैं। सामान्य रूप से जो अनशन तप करते हैं उनको ही तपस्वी कहा जाता है लेकिन शास्त्रकारों ने केवल एक इसी तप से किसी को तपस्वी नहीं माना है। शास्त्रकार तपस्वी उनको कहते हैं जो समाधि पाने की दृष्टि से-अपने स्थायी सुख को सदा के लिये प्रकट करने की दृष्टि से भगवान् के बताये हुए बारहों प्रकार के तपों को अंगीकार करते हुए चलते हैं। ऐसा तपस्वी खाते पीते हुए भी तपस्वी कहला सकता है। इसीलिये उक्त गाथा में ऐसे साधकों को तपस्वी की श्रेणी में बताया गया है और उन्हें आहार की समुचित गवेषणा करने का संकेत दिया गया है।

गवेषणा की विधि को सुलभ बनाने के लिये प्रभु ने अमुक-अमुक दोषों का संकेत भी दिया है कि उन दोषों को टालकर आहार की गवेषणा की जाय। बयालीस दोषों के बारे में सतर्कता गवेषणा के समय रखी जाय तथा पांच दोषों की सतर्कता आहार ग्रहण करने के पश्चात् रखी जाय। गृहस्थ के यहां से आहार ग्रहण करते समय उसकी शुद्धा-शुद्धि के बारे में पूछताछ करना और निर्दोष आहार होने के बारे में आश्वस्त होने के बाद उसे ग्रहण करना-यह गवेषणा है। आत्म साधक साधु गृहस्थ के यहां आहार की चाहना से पहुंचेगा तो वह पहले बयालीस दोषों के सम्बन्ध में आहार की पूरी गवेषणा करेगा। गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार की वस्तुएं या सामग्री पड़ी हुई होती है, उनकी तरफ देखने या ध्यान देने की उसकी रुचि नहीं रहेगी। उसका ध्यान मात्र आहार सामग्री की तरफ रहेगा कि वह निर्दोष और शुद्ध है या नहीं? कितनी ही मन को लुभाने वाली सजावट या रमणीय स्थिति हो, वह उस ओर ध्यान नहीं देगा तथा अपने ध्यान व दृष्टि को आहार की गवेषणा की तरफ मोड़ देगा। जैसे एक भैंस के सामने बहुत सारे प्रदर्शन हों, सोलह शृंगार सजाकर एक बहिन खड़ी हो या कई प्रकार की साज-सज्जाएँ की हुई हों और उनके बीच में बांटे की तगारी रखी हुई हो। तब वह सिर्फ बांटे की तरफ आगे बढ़ेगी, और कुछ भी नहीं देखेगी, उसी प्रकार एक साधु निर्लेप भाव से मात्र एषणीय आहार ही ग्रहण करे। वह आहार लेते समय नहीं पूछे कि अमुक सामग्री क्या है, कितने मूल्य की है या क्या

काम में आती है? उसको गवेषणा सिर्फ आहार की ही करनी चाहिये और वह भी इस दृष्टि से कि निर्दोष आहार प्राप्त हो सके।

इस प्रकार की आहार सम्बन्धी साधु की चर्या तन सेवा भी है तो तपस्या भी है। साधु की साधना सिर्फ धर्मस्थान में ही नहीं होती, बल्कि धर्म स्थान में साधना का अभ्यास होता है तथा उसका परीक्षण भोजन की गवेषणा की दृष्टि से गृहस्थी के घर पर होता है। इसीलिये ज्ञानियों ने कहा है कि साधु के साधुत्व की परीक्षा इर्या, भाषा और एषणा से होती है।

साधुचर्या की परीक्षा इर्या, भाषा, एषणा से-

किसी भी साधु की इर्या, भाषा और एषणा को देखकर उसके साधुत्व की शुद्धा-शुद्धि का सामान्य अनुमान लगाया जा सकता है। साधु गृहस्थी के घर पर आहार ले रहा होता है या कुछ बोल रहा होता है या रास्ते पर चल रहा होता है, वहां भी साधु की परीक्षा हो जाती है। उसकी इर्या, भाषा और एषणा में उसकी मनोवृत्तियों की झलक मिल जाती है। वह रास्ते को देखते हुए नीची नजर करके चल रहा है या चारों ओर की साज सजावट व दृश्यावलियों की तरफ नजर को दौड़ा रहा है-यह देखकर उसकी साधुता या साधुचर्या का परिचय मिल जाता है।

शास्त्रों में उल्लेख है कि साधु साढे तीन हाथ दूर तक रास्ते को देखता हुआ चले ताकि वह छोटे से छोटे जीव की भी रक्षा कर सके। इसकी अपेक्षा उसकी दृष्टि यदि इधर उधर दूर तक जाती है तो इससे उसकी मनोवृत्ति का पता चलता है कि उसको अपनी चर्या का पूरा ध्यान नहीं है। यदि वह बड़ी सावधानी के साथ इर्या गमन के उद्देश्य लेकर चल रहा है तो उससे उसकी तपस्वी भावना तथा शुद्ध साधु चर्या की जानकारी होती है।

इर्या के अलावा भाषा के प्रकार से भी साधु चर्या की जानकारी होती है कि वह विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग कर रहा है या अविवेक से चाहे जैसी भाषा बोल रहा है। यदि भाषा का प्रयोग करने में विवेक नहीं है और वह पत्थर की तरह शब्दों का प्रयोग करता है तो यह समझना होगा कि उसकी भाषा शुद्ध नहीं है। गृहस्थ के घर पर भी दातार भावना से कुछ सामग्री और लेने का निवेदन करे और उसको अगर चाहना नहीं हो तब भी मधुर शब्दों से दातार को सम्बोधित करके साधु कहे कि आपकी भावना अच्छी है लेकिन मेरे को अभी आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ कदापि जिद्ध भी करे तो उस वक्त भी साधु शान्ति के साथ धैर्यपूर्वक उस जिद्ध का उत्तर दे लेकिन वह उत्तेजित न हो और अंडबंड शब्द नहीं बोले। इसके अतिरिक्त भी वह हर क्षेत्र में अपनी भाषा का पूरा-2 ख्याल रखे। कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदकारी, भेदकारी, सावधसपापकारी, झूठी अथवा मिश्र इन आठ प्रकार के दोषों से रहित भाषा बोलने का संकेत शास्त्रों में दिया गया है। साधु सत्य भाषा बोले लेकिन प्रियकारी बोले। वह कर्कश भाषा नहीं बोले और मोसाकारी भाषा भी नहीं बोले। वह सदा मधुर भाषा का प्रयोग करे अमृतवाणी ही साधुचर्या को शोभा देती है।

ईर्या, भाषा और एषणा-इन तीनों में साधु विधि का पूरा ख्याल रखे। विधि के साथ चले, विधि के साथ बोले तथा विधि के साथ ही भोजन की गवेषणा करे। विधि और विवेक के साथ ऐसा करने से साधु चर्या की परीक्षा खरी उतरती है तथा साधु की साधना की स्थिति का भव्य रूपक प्रकट होता है।

साधु, साधु रहे स्वादु नहीं-

मैं साधु द्वारा निर्दोष एवं शुद्ध आहार प्राप्त करने के सम्बन्ध में उल्लिखित बयालीस ही दोषों का वर्णन अभी नहीं कर रहा हूं, लेकिन मुख्य-2 बातों का विवरण दे रहा हूं क्योंकि निर्दोष आहार प्राप्ति के सम्बन्ध में साधु चर्या की विशेष सतर्कता बताई गई है।

साधु को समाधि की भावना रखते हुए जीवन निर्वाह की दृष्टि से भोजन की चाहना रखनी चाहिये। वह भोजन इस भावना से ग्रहण करे कि उससे संयमी जीवन का हित सम्पादित हो सके। संयमी जीवन के निर्वाह के लिये जितना और जैसा भोजन आवश्यक हो, वह उतना और वैसा भोजन ही ग्रहण करे।

शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि जब एक साधु भोजन करने के लिये बैठे तो वह किस भावना एवं मनोवृत्ति के साथ भोजन करे? अपने मन को शांत-प्रशांत बना कर वह यह चिन्तन करे कि यह मैं जो भोजन ग्रहण कर रहा हूं, वह इस शरीर की पुष्टि के लिये नहीं ले रहा हूं बल्कि यह शरीर संयम की साधना में सहायक रहे-इस उद्देश्य से ले रहा हूं। शरीर को उतनी ही मात्रा में भोजन देना है कि जिससे विकृति नहीं बढ़े और शरीर साधना में गतिशील बना रहे। यदि इस प्रकार की भावना रखकर भोजन किया जाता है तो साधु को इस बात का कोई ख्याल नहीं होगा कि गृहस्थी के यहां के लाये आहार में नमक कम था या ज्यादा अथवा भोजन बेस्वाद था। साधु साधु रहना चाहिये, वह स्वादु नहीं बने। कदाचित् उसने भोजन ग्रहण करते समय विवेक नहीं रखा और मन की चंचलता के अधीन होकर बह गया या बहक गया तो वह अपनी साधु चर्या से नीचे गिर सकता है तथा साधुता को भ्रष्ट बना सकता है। गृहस्थ सामने नहीं है लेकिन भोजन करते समय वह भोजन की निन्दा करता है या गृहस्थ के लिये कहता है कि कैसे मूर्ख हैं-भोजन बनाने का भी बराबर ध्यान नहीं है तो वह अपनी चर्या को बिगाड़ता है तथा अपने संयम का धुआं उड़ाता है।

वास्तव में साधु जीवन की साधना एवं साधुचर्या की पालना सहज नहीं है। यह तो तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन मार्ग है। एक साधक को प्रतिक्षण अपनी मनोवृत्तियों तथा अपनी चर्या के सम्बन्ध में सावधानी बरतने की आवश्यकता रहती है। मन की चंचलता और उसके हठ के पीछे अगर एक साधक बहक जाता है तो सोचिये कि फिर उसकी साधना कहां रह जायगी? वह भी उच्चकोटि की साधना से गिरकर कहां पहुंच जायगा? यह साधु जीवन जिस व्यक्ति को अभीष्ट लगे, उसी को अंगीकार करना चाहिये, लेकिन अंगीकार कर लेने के पश्चात् इसका अनुसरण और पालन पूरे प्राणपण से किया जाना चाहिये।

एक साधु भी गृहस्थियों के बीच में से ही आता है, वह कोई आसमान से नहीं टपकता। और गृहस्थ अवस्था में रहते हुए अपने घर के संस्कारों तथा सामाजिक वातावरण के अनुसार उस व्यक्ति की अपनी वृत्तियों का निर्माण हो जाता है, उनका असर साधु जीवन में से यकायक नहीं चला जाता है। अमुक घर में रहते हुए अमुक प्रकार के भोजन आदि का भी अभ्यास हो जाता है जिसका असर भी साधु बन जाने के बाद भी किन्हीं अंशों में रह सकता है। लेकिन एक साधु के लिये आवश्यक है कि वह ऐसे असर को जल्दी से जल्दी मिटा दे और अपनी सारी पसन्दगियां खत्म करदे। किसी भी पदार्थ में साधु की आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति रहती है- वह सबसे बड़ा दोष है। साधु जीवन में हाथ की बात नहीं है कि किसी को उसका इच्छित पदार्थ मिले और स्वयं इच्छा रखना भी उसके लिये समुचित नहीं है। वह अपने हठीले मन को काबू में रखे और आदतों को संयमित बनाले। साधुचर्या की विशेष सतर्कता उसके भोजन के साथ जुड़ी हुई रहनी चाहिये क्योंकि भोजन का जीवन पर विविध प्रकार से व्यापक प्रभाव पड़ता है।

मन को परिमार्जित कैसे किया जाय?

साधु यदि मन की चंचल वृत्तियों के अधीन होकर चलता है तो वह अपने संयम से पतित होता है क्योंकि मन की अधीनता सदा ही असंयम को उघाड़ती है। साधुता की सार्थकता तो मन को नियंत्रित रखने में रही हुई होती है। मन को ज्ञान की दृष्टि से रोका जाय तभी साधु की साधना सफल बन सकती है।

मनोविज्ञानवेत्ता भी मन के अविवेकपूर्ण नियंत्रण को नहीं मानते हैं क्योंकि वह मन का दमन हो जाता है। मन हठीला होता है और उसके दमन से वह बिगाड़ की तरफ बढ़ जाता है। किन्तु समझ के साथ उसका परिमार्जन किया जाना चाहिये। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों का मत था कि मन जो मांगता है वह उसे दे दो। उसको जबरदस्ती रोकना

तुम्हारे लिये हितकारी नहीं होगा। बाद के मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि मन की आदत एक सी नहीं होती है। मन में वे भाव जो अस्तित्व में ही नहीं होते हैं, वे उत्पन्न होते हैं तथा फैलते हुए स्थायी भाव बन जाते हैं। वे मूलभाव को साथ में लेकर चलते हैं। यदि मन की आदत विषम भावों के साथ जुड़ गई और उस भावना का पोषण होता रहा तो मन में विषमता तथा कटुता बढ़ जाती है और फिर उन भावों में आत्म तृप्ति की प्राप्ति दुर्लभ बन जाती है। ऐसी तृष्णा जब पदार्थों की तरफ जाग जाती है तो वह कई बार सीमा लांघ जाती है। तब मन काबू में कतई नहीं रहता और वह व्यक्ति हानिप्रद और जहरीले पदार्थों का भी उपयोग करने लग जाता है। फिर अन्यान्य पदार्थों को प्राप्त करने की लालसाएं उद्दाम बन जाती है वे पदार्थ प्राप्त होते नहीं और अतृप्ति मिटती नहीं है।

सांसारिक विषमताओं में तब मन की आदतें इस तरह ढल जाती हैं कि व्यक्ति बेबश हो जाता है। फिर जैसे एक बच्चा नासमझी में मिट्टी खाने की आदत बना लेता है और उसे कितना ही रोके, वह कहीं भी किसी भी तरह मिट्टी खाये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार व्यक्ति भी विवश होकर उन विषम आदतों में भटकता रहता है। मिट्टी खाने की जिन बच्चों को आदत हो जाती है, उनको उनकी माताएं कितना ही रोकती हैं, मिष्टान्न आदि नाना प्रकार के श्रेष्ठ पदार्थ खाने को देती हैं, फिर भी वे उस गलत आदत के वश में होकर मिट्टी खा ही लेते हैं। उनकी उस आदत को मिटाना है और मोड़ देना है तो वह वैज्ञानिक पद्धति से ही किया जा सकता है। उसी प्रकार बिगड़े हुए मन को मोड़ने के लिये तथा उसे परिमार्जित करने के लिये मनोविज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान की सहायता आवश्यक हो जाती है।

मन का परिमार्जन करने के उद्देश्य से ही साधना का पथ बताया गया है। यह साधना ही साधुता है जिसके माध्यम से मन को परिमार्जित, नियंत्रित एवं संयमित बना सकते हैं। असंयम और असाधुता से मन की उच्छृंखलता एवं परतन्त्रता बढ़ती है, लेकिन साधुता एवं संयम की साधना करने से मन स्वतन्त्र बनता है। यदि मन अपनी बनी हुई आदतों के अधीन रहता है तो उसका लक्ष्य साधना की ओर नहीं मुड़ सकता है। साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने का लक्ष्य ही यह है कि इस जीवन में विषमताजन्य जो आदतें और लत बन गई हैं, उनको विचार पूर्वक छोड़ा जाय। ये सारी विषम आदतें इस आत्मा की शरीर के संयुक्त स्थिति के कारण पैदा हुई हैं- यह आध्यात्मिक दृष्टि है।

आत्मा का शुद्ध विज्ञान यही है कि समभाव से जो कुछ भी मिल जाय, उसको समभाव पूर्वक ही ग्रहण करने की वृत्ति बना ली जाय। यही मन का परिमार्जन, नियंत्रण और संयम है तथा यही साधुता है। जिस आत्मा का यह विज्ञान उत्कृष्ट बन जाता है, वह मन की स्थिति को पूर्णतः स्वतन्त्र बना लेती है।

साधुचर्या का विमलरूप समभाव-

मन का यह स्थायी भाव बन जाय कि वह सदा समभाव में ही रमण करता रहे यह साधुचर्या का निर्मल स्वरूप माना गया है। समभाव का अर्थ होता है निरपेक्ष भाव या तटस्थ भाव। तब शरीर का संयोग बना रहने पर भी मन और आत्मा स्वतन्त्र होकर रागात्मक भावों से दूर हो जाते हैं। तब शरीर के लिये सुखकारी पदार्थ मिलेंगे तब भी और कष्टकारी पदार्थ मिलेंगे तब भी एक जैसी ही अनुभूति रहेगी। मन की स्थिति जब सम्भल जाती है और स्वाधीन बन जाती है, तब ही ऐसी समभाव की अनुभूति प्राप्त हो सकती है।

समभाव की यह अवस्था साधुचर्या की निर्मलता पर आधारित होती है। साधुता के स्वस्थ विकास की दशा में समभाव का विकास होता रहता है। एक सच्चे साधु के लिये भोजन का उपयोग शरीर के निर्वहन के अलावा कुछ नहीं रहता तथा शरीर का उपयोग धर्म साधन के अलावा कुछ नहीं रहता। एक साधु के सामने भोजन में कदाचित् घातक तत्व भी आ जाते हैं, उनको भी वह समभाव से ग्रहण कर लेता है तब साधक का जीवन बहुत ऊंचा बन जाता है। साधु की साधना तो ऊंची होनी ही चाहिये लेकिन एक गृहस्थ भी अपने स्तर पर यदि साधना में रत रहता है और समभाव की आराधना करता है तो वह भी शारीरिक तथा मानसिक उलझनों से दूर हट सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस सम्बन्ध में कृष्णाकुमारी का वर्णन आता है। वह एक राजकन्या थी। अति सुन्दर होने के कारण कई राजा उससे विवाह करने के लिये एक साथ पहुंच गये और उसके पिता पर अपने-अपने पक्ष में दबाव डालने लगे। राजा चारों ओर से घिर कर घबरा गये और सोचने लगे कि यह सारा संकट कन्या के कारण आया है सो इस कन्या के जीवन को ही समाप्त क्यों न कर दें? राजा ने दूध में जहर घुलवाया और संकट से मजबूर होकर अपने हाथ में कटोरा लेकर वहां पहुंचे जहां राजकुमारी खेल रही थी। वह स्वयं पिता के इस स्नेह को देखकर हर्षित हो उठी तथा पिता के हाथ से कटोरा लेकर दूध पी गई। उसके मन में समभाव था सो उस जहर का भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। यह देखकर राजा दूसरी बार जहर वाला दूध पिलाने आये। उसे भी वह उसी स्नेह से पी गई और कोई असर नहीं हुआ। राजा घबरा गया और तीसरी बार फिर कटोरा लेकर गया। तब राजकुमारी को भान हुआ, शंका पैदा हुई तथा आये हुए संकट के कारण उसके सामने सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। तब उसने जहर को जहर समझ कर पी लिया कि पिता का संकट उसके प्राणहरण से ही दूर होगा। तब उसका प्राणान्त हुआ। कहने का आशय है कि आत्मा का समभाव इतना प्रबल होता है जो शरीर की वेदनाओं से मन को मुक्त बना देता है।

जहां समभाव की वृत्ति स्वाभाविक बन जाती है तो वह जन्मजात पूर्व के संस्कारों के साथ इस जीवन में मिल जाती है। ऐसे सुसंस्कृत जीवन का निर्माण करने के लिये ही साधुता की साधना होती है-साधुचर्या की भावपूर्ण विधि से अनुपालना होती है। ऐसे साधना के पथ पर चलने वाले साधु को प्रारम्भ से ही मन की वृत्तियों के अधीन नहीं चलना चाहिये, बल्कि मन की वृत्तियों को स्वाधीन अपने जीवन के अधीन बनानी चाहिये। पाश्चात्य विद्वानों एवं वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण भी अब इस दिशा में मुड़ रहा है। वे मन को केन्द्रबिन्दु मानकर चलने लगे हैं फिर भी शास्त्रीय दृष्टिकोण से वे अभी तक भी बहुत पीछे हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि.....

साधु आहार करने के लिये बैठा है और भोजन बेस्वाद है, कटुक है या अन्यथा कैसा भी है लेकिन साधु को उसे समभाव से ग्रहण करना चाहिये। मन की वृत्ति इधर-उधर होने लगे तब भी उसका सम्यक निरोध करना चाहिये। स्व. आचार्यश्री फरमाया करते थे कि साधु अवस्था में समभाव पनपना ही चाहिये-जो चीज अच्छी नहीं लगती है, उसे जरूर खाओ। अच्छी आदत बनाओ, फिर उसमें आनन्द आने लगेगा। खाते समय अलग जायका नहीं लेकर एक ही द्रव्य की मर्यादा रखनी चाहिये। मैं सोचता हूं कि ऐसी मर्यादाएं जीवन के लिये बड़ी हितावह होती हैं। एक द्रव्य की मर्यादा से सभी खाद्य वस्तुएं मिला दी जाती हैं और उससे स्वाद को जीतने में बड़ी सहायता मिल जाती है। उससे समभाव की दिशा में गति होती है। जितनी इन रूपों में साधु-चर्या निर्मल बनती है, उतनी ही इस जीवन में दिव्यता उत्पन्न होती है।

आत्म निर्मलता

साधुचर्या का एक ही लक्ष्य है कि इस आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करना। विमल भगवान् जैसी विमलता जब इस जीवन में आती है, आत्मा का कर्तृत्व सार्थक बन पाता है। लेकिन ऐसी विमलता या निर्मलता कब और कैसे आयेगी? क्या निर्मलता शब्द का रटन करते रहें या निर्मलता के आधार समभाव को पुष्ट बनावें? इसका संकेत भगवान् विमलनाथ की प्रार्थना में दिया गया है-

विमल जिन दीठा लोयण आज ।

मारा सिध्या वांछित काज ॥

चरण कमल कमला बसे रे, निर्मल स्थिर पद देख ।

समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख ॥

आत्म निर्मलता जीवन का चरम लक्ष्य है और वह प्राप्त होगी साधुचर्या की निर्मलता से। साधुचर्या में निर्मलता तभी प्रविष्ट और पुष्ट बन सकेगी, जब मन की वृत्तियों तथा जीवन की सकल प्रवृत्तियों में सहजता एवं समभाव का संचार हो जायगा। निज पुरुषार्थ के प्रकटीकरण की यही दिशा है।

दि.24-10-77

१११

17. आहार की शुद्धि से साधना में विशुद्धि

विमल जिन दीठा लोयण आज.....

इस जीवन में सबसे बड़ी यदि कोई आवश्यकता है तो वह इस जीवन की विमलता है। इस विमल स्वरूप को प्राप्त करने के लिये ही बड़े-2 महात्माओं ने संसार का परित्याग किया तथा वे कठोरतम आत्म-साधना में प्रवृत्त हुए। कई योगियों ने योग के माध्यम से इस विमलता का वरण करने का प्रयास किया। जितने भी साधक एवं जितने भी योगी इस विश्व के अन्दर आध्यात्मिकता के नाम से जो कुछ भी पुरुषार्थ करते हैं, उस पुरुषार्थ के पीछे इसी विमलता का ही उद्देश्य होता है तथा वास्तव में यही उद्देश्य होना चाहिये।

कइयों का यह उद्देश्य होता भी है, लेकिन उनमें से कई विमलता के स्वरूप को वस्तुतः समझ नहीं पाते हैं। कहने की दृष्टि से वे यही कहेंगे कि उनकी साधना विमलता की प्राप्ति के लिये है, लेकिन वे ज्ञान दृष्टि से यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि वे जो साधना कर रहे हैं, वह वास्तव में विमलता की साधिका है या नहीं। लेकिन साधना यदि शुद्ध लक्ष्य के साथ बनती है तो उससे विमलता का स्वरूप प्राप्त हो सकता है। यदि लक्ष्य वास्तविक रूप में स्थिर नहीं है तो साधना भी स्थिर नहीं बनती है। योग साधना की दृष्टि से गुफाओं में ध्यान लगाया जा सकता है, प्राणायाम आदि की प्रक्रियाएं की जा सकती हैं, लेकिन इतने मात्र से विमलता नहीं आ जाती है। प्राणायाम भी एक प्रकार की कला है और श्वासोच्छ्वास को साधने की एक पद्धति है। जब इस रूप में श्वासोच्छ्वास की क्रियाएं की जाती हैं तो उनसे मन की एकाग्रता सधती है और उस प्राप्ति एकाग्रता के बल पर आत्म साधना के मार्ग पर प्रगति की जा सकती है।

एकाग्रता हो शुद्ध लक्ष्य के प्रति-

मन की एकाग्रता भी सध जाय, लेकिन उससे विमलता का स्वरूप प्राप्त हो ही जायेगा-ऐसा कोई नियम नहीं है। कई अशुद्ध वृत्तियों वाले व्यक्तियों की भी एकाग्रता बन सकती है, लेकिन उनकी उस एकाग्रता का उपयोग अशुद्ध लक्ष्य के लिये होता है तो उससे विमलता कैसे प्राप्त हो सकेगी? कभी-2 संसार में अनैतिक जीवन जीने वाले भी बड़ी एकाग्रता साध लेते हैं। जैसे चोर चोरी करने के लिये जाता है तो वह कितना एकाग्र और सावधान रहता है वह घर में घुसता है, तिजोरी व तालों की तोड़-फोड़ करता है या दूसरे काम करता है तो उन सबकी तनिक भी आहट नहीं होने देता है। तो क्या चोर की वैसी सावधानी और एकाग्रता उसके लिये आत्म साधना और विमलता की साधिका हो सकती है? उसकी वह एकाग्रता तो आत्मघातिका बन जाती है जो उससे गम्भीरतम अपराध करवा लेती है।

एकाग्रता का एक दूसरा उदाहरण ले लीजिये। कई वक्त जब डॉ. लोग किसी-किसी ऑपरेशन के कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो उसमें बहुत ही तन्मय हो जाते हैं। कभी-कभी उनकी वह एकाग्रता इतनी गहरी हो जाती है कि उनको यह भी ध्यान नहीं रहता कि उनके पास में कौन-कौन खड़े हैं? लेकिन उनकी वह एकाग्रता भी अपने धन्धे के कार्य उस ऑपरेशन तक ही सीमित होती है। उनके मन में यह खयाल रहता है कि यदि ऑपरेशन ठीक तरह से नहीं किया गया

और सफल नहीं रहा तो उनकी बदनामी हो जायेगी तथा उससे उनका धन्धा चौपट हो जायेगा। इस के विपरीत अगर उससे उनकी नामवरी फैलेगी तो उनकी आय निरन्तर अभिवृद्ध होती जायेगी। तो उनकी एकाग्रता का दृष्टिकोण प्रायः उनके अपने अर्थ या यश के उपार्जन से जुड़ा हुआ रहता है। उसका सीधा सम्बन्ध जीवन निर्माण से नहीं होता। इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों में एकाग्रता का स्वरूप दिखाई दे सकता है, लेकिन वह स्वरूप अपनी आत्मा की विमलता का वाहक ही हो -ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

वही एकाग्रता विमलता की साधिका बन सकती है जो शुद्ध लक्ष्य के साथ तथा शुद्ध लक्ष्य के प्रति साधी जाती है। वैसी एकाग्रता ज्यों-ज्यों गहरी बनती है, त्यों-त्यों निज स्वरूप की विमलता अभिवृद्ध बनती जाती है। शुद्ध लक्ष्य वाली एकाग्रता से ही मन को साध सकते हैं और उस सधे हुए मन को उस शुद्ध लक्ष्य के प्रति गतिशील बना सकते हैं। यह अवश्य है कि मन शरीर से भिन्न अथवा स्वतन्त्र नहीं होता है, वह शरीर के ही भीतर रहने वाला एक यन्त्र होता है, लेकिन वह ऐसा माध्यम होता है जो जब सध जाता है तो वह आत्मा को भी साधना की दिशा में मोड़ देता है तथा शरीर को भी उस साधना का सहायक बना लेता है। शरीर का बाहरी कार्य करने वाला यंत्र हाथ होता है जिसे करण कह सकते हैं। करण का तात्पर्य है वह माध्यम जिसके जरिये कार्य किया जाय। जैसे सरोते से सुपारी काटी जाती है लेकिन अकेला सरोता सुपारी नहीं काट सकता है-उसकी सहायता के लिये हाथ का उपयोग जरूरी है। उसी प्रकार अकेले हाथ के प्रयोग से भी कार्य होना सम्भव नहीं होता है जब तक कि मन उसकी सहायता के लिये तैयार नहीं हो। शरीर की सहायता उसके भिन्न-भिन्न अवयव करते हैं लेकिन उन अवयवों तथा स्वयं शरीर के संचालन के पीछे मन का योग रहता है।

मन के स्वरूप एवं उसकी कार्य प्रणाली तथा उसकी एकाग्र विधि को समझने के पहले यह मान लेना आवश्यक है कि शुद्ध लक्ष्य के प्रति ही मन की एकाग्रता जब बनती है, तभी निज स्वरूप की विमलता की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

साधना के लिये आहार की शुद्धि भी-

कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य में लगता है तो उसके पीछे मन का योगदान रहता है। बिना मन के योगदान के किसी भी कार्य की संपन्नता संभव नहीं बनती है। यदि मन दूसरी तरफ है तो आप अपने हाथों को उससे भिन्न दिशा में भलीभांति कार्यरत नहीं बना सकते हैं। संज्ञागत कार्य भले ही हो जाय, लेकिन व्यवस्थित रूप से कार्य नहीं हो पायेगा। जब मन लगता है, तभी व्यवस्थित कार्य होता है एवं मनोयोगपूर्वक किया गया कार्य ही सार्थक तथा सफल बनता है। साधना की दृष्टि से तो मन का योग प्रमुख रूप से एकाग्र एवं लक्ष्याधीन होना चाहिये।

मन दो तरह का माना गया है-एक द्रव्य मन तथा दूसरा भाव मन। भाव मन आत्मा की शक्ति रूप होता है। यह आत्मा की शक्ति छोटे-छोटे प्राणियों में भी द्रव्य मन के अभाव में कुछ कार्यशील बनती है, लेकिन उनका वह कार्य दिखाई नहीं देता है क्योंकि द्रव्य मन से जो कार्य किया जाता है, वह स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। यह द्रव्य मन एक तरह से शरीर का अवयव होता है और इसलिये इसको भी करण कहा है। इसकी दृढ़ता और एकाग्रता साधना के लिये आवश्यक है। इस द्रव्य मन को साधना में लगाने के लिये तथा इसकी एकाग्रता को साधने के लिये शास्त्रकारों ने शरीर से सम्बन्धित तत्त्वों का भी उल्लेख किया है एवं उन तत्त्वों में से मुख्य तत्त्व माना गया है आहार या भोजन, जिसके विषय में कई बातें ज्ञातव्य हैं।

यदि कोई साधक या साधु साधना में प्रवृत्त होता है तो उसमें आहार या भोजन भी एक सहायक तत्त्व होता है क्योंकि साधना के लिये शरीर का माध्यम आवश्यक है तो शरीर के निर्वहन के लिये आहार आवश्यक है। भोजन सीधा शरीर में पहुंचता है, लेकिन वह अपनी विभिन्न प्रक्रियाओं के जरिये मन को भी प्रभावित करता है तथा मन का प्रभाव जीवन

की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों पर पड़े बिना नहीं रहता है। यदि भोजन अशुद्ध अथवा तामासिक होता है तो उससे मन में अशुद्धता एवं विषमता व्याप्त होती है। भोजन चलाचल की वृत्ति पैदा करने वाला होता है तो मन में अवश्य ही चंचलता फैल जायेगी और भोजन उत्तेजना पैदा करने वाला है तो मन उत्तेजित हो जायेगा। इसके विपरीत यदि भोजन शुद्ध एवं सात्विक है तो उसके प्रभाव से मन में भी नैतिकता एवं सदाशयता का उदय होगा। यद्यपि भोजन का सीधा सम्बन्ध शरीर के साथ होता है, लेकिन परोक्ष में उसका उतना ही सम्बन्ध मन के साथ में भी होता है। मन की गतिविधि से तदनुसार भोजन ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में मुख्य रूप से मन ही पोषण करता है जिसमें द्रव्य मन और भाव मन दोनों संयुक्त होते हैं। इसलिये मन की शुद्धि के लिये साधु को निर्दोष विधि से शुद्ध एवं सात्विक आहार ही ग्रहण करना चाहिये।

शुद्ध आहार तो शुद्ध मन, और शुद्ध मन तो शुद्ध साधना-

शास्त्रकारों ने संकेत दिया है-आहार-मिच्छे मियमेसणिज्जं.....।

इसमें पहला शब्द है-आहारमिच्छे अर्थात् आहार के बिना यह शरीर नहीं चलता है। और यदि शरीर नहीं चलता तो मन नहीं सध सकता है तथा वह धर्म-साधना का सबल माध्यम नहीं बन सकता है। यह भी सही है कि मन के सधे बिना आत्म-साधना नहीं सध सकती है। इसलिये शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि मूल को पकड़ो। यदि मूल को ठीक तरह से समझ लोगे और उसके अनुसार आचरण करोगे तो आगे सफलता मिलेगी। यदि वर्णमाला का अभ्यास एक बालक ठीक तरह से कर लेता है तो फिर उसको बड़े-2 ग्रंथों को भी पढ़ लेने में कोई कठिनाई नहीं आवेगी। आगे से आगे की परीक्षाओं में भी उसको सफलता मिलती जायेगी।

आहार की दृष्टि से शास्त्रकारों ने साधुओं के लिये जो निर्देश दिये हैं, उन पर कल कुछ विवेचन किया गया था और आज उसको और स्पष्ट किया जा रहा है। साधुओं को आहार के सम्बन्ध में 106 दोष टालने का निर्देश दिया गया है तो शास्त्रकारों ने इतना बारीक दृष्टिकोण आहार के सम्बन्ध में क्यों अपनाया है? कभी साधारण व्यक्ति सोचता है कि साधु-भिक्षा लेने किसी के घर पहुंचता है, वहां असावधानी से बहिन सब्जी आदि किसी सचित पदार्थ को छू लेती है और वह साधु तब उस भिक्षा को छोड़ कर चला जाता है तो उस बहिन को कितना दुःख होता है-इसका विचार क्यों नहीं किया जाता है? छोटे प्राणी का तो विचार किया और बड़े प्राणी का छटपटाना नहीं देखा-ऐसा क्यों? शास्त्रकारों ने इसका भी उत्तर दिया है। उनका कहना है कि साधु ऐसे आहार को ग्रहण नहीं करे। साधु के चले जाने का उस बहिन को पश्चात्ताप होगा तो आगे से वह अपने उपयोग को सावधान रखेगी। उसका वह पश्चात्ताप उसको शुभता की ओर ले जाने वाला बन जायेगा। जितने समय तक वह इस प्रकार पश्चात्ताप करेगी तो उतने समय तक दान देने की शुभ भावना उसके मन में चलती रहेगी जिससे उसके मन का शुद्धिकरण होगा। दुनिया देखती है कि वह दुःखी हुई है लेकिन उसका वह दुःख उसके मन को परिमार्जित करने वाला बन जाता है। व्यक्ति शुभ कार्य के लिये जितना छटपटाता है, उतनी ही उसके मन की एकाग्रता एवं शुद्धि बढ़ती है। साधु के लिये शुद्ध आहार को ही ग्रहण करने का निर्देश भी इसी उद्देश्य के लिये है कि वह अपने मन को एकाग्र एवं शुद्ध बना सके।

दूसरी बात यह है कि साधु चर्या की मर्यादाएं बड़ी बारीक रखी गई हैं, क्योंकि जिस साधु ने मन को साधने के लिये ही इस संसार का परित्याग किया है, उसका पहला और ऊंचा कर्तव्य है कि वह मन की अशुद्धियों का निवारण करे और मन को अशुद्ध बनाने वाले सभी तत्वों से बचकर चले। सब्जी पर पांव रख कर उस बहिन ने वनस्पति काया के जीवों की हिंसा साधु के लिये की तो साधु को सोचना होता है कि उस बहिन की बेपरवाही से होने वाली हिंसा से साधु मर्यादा के प्रति गलत धारणा बनती है। उस आहार को यदि साधु ग्रहण कर लेता है तो साधु को दोष भी लगता है। तथा छोटे-2 जीवों की हिंसा के प्रति गृहस्थों की उपेक्षा दृष्टि बन जाती है तथा साधु भी लापरवाह बन जाता है। बात छोटी दीखती है लेकिन आगे चलकर उसके दुष्परिणाम बन सकते हैं। इसमें मनोवृत्ति के निर्माण का प्रश्न रहा हुआ होता है और मनोवृत्ति बड़ी महत्वपूर्ण होती है। साधु जन सारे संसार के कल्याण के प्रतीक तथा छः काया के

जीवों के संरक्षक होते हैं और जो जीवन में विमलता उत्पन्न करने के लक्ष्य को लेकर चलते हैं तो उनका जीवन अमृत तुल्य बनना चाहिये। ऐसे साधु को भिक्षा के सम्बन्ध में कतई लापरवाही नहीं बरतनी चाहिये। क्योंकि शुद्ध आहार का क्रम बना रहेगा तो शुद्ध मन होगा और शुद्ध मन होगा तो साधना शुद्ध बनी रहेगी। साधु के लिये मन की सावधानी तथा आत्म साधना में एकाग्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है।

साधना की दृष्टि से छोटी-छोटी बातों के बड़े परिणाम-

दुनिया वालों को बड़े-बड़े महात्माओं की कई बातें छोटी दिखाई देती हैं और वे उनको उतना महत्त्व नहीं देना चाहते हैं लेकिन ध्यान रखिये कि साधना की दृष्टि से एवं मन की एकाग्रता की दृष्टि से छोटी-छोटी बातों का भी अपार और अपूर्व महत्त्व होता है तथा उनके बड़े परिणाम प्रकट हो जाते हैं।

गांधीजी स्नान करने की दृष्टि से एक पत्थर अपने पास रखा करते थे। वे जब नोआखाली गये तो पैदल यात्रा कर रहे थे। पत्थर उनके सामान के साथ था जिसको उनके साथी उठाकर चलते थे। एक स्थान से सब चले, लेकिन वह मैल उतारने का गांधीजी का पत्थर वहीं रह गया। छः मील आगे चले गये और वहां गांधीजी द्वारा स्नान करने का प्रसंग आया तो पता चला कि पत्थर पीछे ही भूल आये हैं। गांधीजी ने सामान लाने वाले साथी को वापिस जाकर पत्थर लाने का निर्देश दिया। बारह मील का चक्कर लगवाने के पीछे गांधीजी का यह अभिप्राय नहीं था कि वह पत्थर बड़ा मूल्यवान था लेकिन उनका अभिप्राय व्यक्ति की मनोवृत्ति के निर्माण के सम्बन्ध में था। जो आज छोटी-सी बेपरवाही करता है और उसको नजरअन्दाज कर दी जाय तो वही कल बड़ी-बड़ी बेपरवाहियां करने लग जायेगा जो उसके जीवन के लिये घातक हो सकती हैं। मनोवृत्ति एवं जीवन निर्माण की दृष्टि से देखिये कि क्या गांधीजी ने उसको बारह मील का निरर्थक कष्ट दिया ? उन्होंने कहा कि मैं इस पत्थर को कोई महत्त्व नहीं दे रहा हूं। मैं महत्त्व दे रहा हूं उस व्यक्ति के जीवन और उसकी मनोवृत्ति के निर्माण को। मन की छोटी-सी लापरवाही सामान्य जीवन को भी बिगाड़ सकती है तो भला एक साधक के जीवन को वह कितना विकृत और भ्रष्ट बना सकती है ?

स्व. आचार्य देव फरमाया करते थे कि जो सन्त किसी भी बात को छोटी बताकर लापरवाही करता है, वह आगे जाकर बड़ी बात के लिये भी लापरवाही करेगा और जो छोटी बात के भी महत्त्व को समझकर उसको छोड़ने का यत्न करता है, वह सदा सन्नद्ध और सावधान रहेगा। जो सतत सावधान रहता है, वही मन की एकाग्रता को साध सकता है तथा अपने महाव्रतों की पूर्ण सुरक्षा कर सकता है। शास्त्रकारों ने इसी दृष्टि से निर्देश दिया है कि भिक्षा के समय गृहस्थ भाई-बहिन लापरवाही कर दे तो दिन भर उनके यहां से भिक्षा नहीं ली जाय। यदि उससे उनको दुःख होगा- छटपटाहट होगी तो वे उसको याद रखेंगे और आगे से कभी भी लापरवाही नहीं करेंगे। जो शिक्षा इस रूप में एक दिन मिल जाती है और याद रहती है, वह कई बार उपदेश सुन कर भी कभी-कभी नहीं मिलती है। इसलिये छोटी-छोटी बातों की परवाह करने की तरफ ध्यान दिलाने का भी अपना विशेष महत्त्व होता है ताकि छोटी-छोटी भूलों के बड़े दुष्परिणाम देखने को नहीं मिलें तथा छोटी-छोटी बातों के पालन के बड़े सुपरिणाम प्रकट हो सकें।

साधु के लिये ऐषणिक, मित एवं निर्दोष आहार का विधान-

सन्त जीवन के लिये सादा और मित आहार हो, लेकिन वह ऐषणिक एवं निर्दोष भी हो। आहार में किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं होनी चाहिये, लेकिन उसको प्राप्त करने की विधि में भी कोई अशुद्धि नहीं होनी चाहिये। भोजन चाहे रूखा-सूखा या सरस हो, लेकिन साधु की जो विधि बताई गई है, उसमें कोई अशुद्धि हो, वह ठीक नहीं है। नौका में छोटा-सा सुराख होता है और उसके प्रति लापरवाही बरती जाती है तो वह छोटा सुराख ही नौका को डुबो देता है। वैसे बात छोटी दिखाई देती है कि वनस्पति में जीव होते हैं, वे दिखाई नहीं देते हैं लेकिन जीव होते हैं-यह तीर्थंकर देवों ने बताया है और आधुनिक विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है तो उन जीवों की भी रक्षा की जानी चाहिये, तभी साधु

अहिंसा का पूर्णतः पालन कर सकता है। भगवान् महावीर ने बताया है कि जैसी आत्मा तेरी है, वैसी ही आत्मा वनस्पति जीव की भी है। मौलिक आत्म स्वरूप की दृष्टि से मनुष्य का विकास हो गया, और वनस्पति के जीव का उतना विकास नहीं हुआ। लेकिन साधु को छः काया के जीवों का प्रतिपालक होना चाहिये-कहीं भी जीव रक्षा के मामले में उसकी लापरवाही नहीं होनी चाहिये। गृहस्थ के लिये तो आरम्भ समारम्भ की प्रवृत्तियां होती हैं, लेकिन सन्त जीवन के लिये ऐसी छूट नहीं है। इसलिये साधु से कहीं तनिक लापरवाही भी हो जाती है तो उसे उसका प्रायश्चित लेना होता है। प्रायश्चित लेने पर उसके कर्म बन्धन हल्के होते हैं। जो प्रायश्चित नहीं लेता है, वह साधु जीवन के विरुद्ध बात होती है।

भगवान् ने सूक्ष्म रूप से साधु के आहार के लिये 106 दोष बताये हैं। वैसे स्थूल रूप में 42 दोष हैं। यह साधु की विधि होती है कि वह दोषों को टाल कर निर्दोष आहार ग्रहण करे। इसे आहार शुद्धि कहते हैं। भोजन करते समय में भी वह 5 दोषों को टाले। यह साधु की साधना की दृष्टि से सारा विधान है। समझ लीजिये कि साधु विधि से आहार लाया और समभाव से भी ग्रहण किया लेकिन आहार उसे अधिक भी नहीं बल्कि मित मात्रा में करना चाहिये तथा उसी आवश्यकता के अनुसार भिक्षा भी लानी चाहिये। यदि स्वाद के वशीभूत होकर वह अधिक आहार लाता है और लेता है तो वह अन्न उसके योग्य नहीं है। चाहे भिक्षा देने वाला दातार बड़ी उज्वल भावना से आहार दे लेकिन लाने वाला साधु अपनी मित आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करे। उसकी भावना उसके लिये अच्छी है लेकिन साधु के लिये अधिक आहार लेना कतई समुचित नहीं है। ऐषणिक, मित एवं निर्दोष आहार के द्वारा ही साधु जीवन की परिपूर्ण साधना संभव होती है।

विमलता की साधना-यह साधु जीवन का प्रधान लक्ष्य है। श्रावक गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने जीवन को पूर्णतया विमल नहीं बना सकता है लेकिन साधु तो संसार का परित्याग करके दीक्षा ही इसलिये अंगीकार करता है कि वह जीवन को पूर्णतया विमल बनाने की साधना करे। आहार शुद्धि की दृष्टि से शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि-

जहा दुमस्स पुप्फेरसु भमरो आवियई रसं ।

नय पुप्फं किलामेई सो य पीणेइ अप्पयं ॥

अर्थात् जिस प्रकार भंवरा फूल पर बैठ कर इस तरह रस ग्रहण करता है कि वह फूल को किंचित्मात्र भी कष्ट नहीं देता है और अपना निर्वहन भी कर लेता है, उसी प्रकार साधु को गृहस्थ के यहां से भिक्षा लानी चाहिये। उसे भोजन की गवेषणा करनी चाहिये लेकिन भोजन निर्दोष रहे- इसके लिये गृहिणियों को भी पूरा विवेक रखना चाहिये। यदि वे पूरा विवेक रखें तो छोटे-2 जीवों की रक्षा भी होगी, भोजन भी शुद्ध रहेगा तथा साधु की गवेषणा भी सरल होकर उसको शुद्ध आहार मिल जायेगा। इस रूप में गृहस्थों की भी विमलता की साधना बन जाती है।

साधना की दृष्टि से ही साधु के लिये ऐषणिक, मित तथा निर्दोष आहार का विधान रखा गया है और उसका पालन उसके लिये अनिवार्य है।

नीति से अर्जित अन्न का विशिष्ट प्रभाव

साधु के लिये यह बात भी देखने की होती है कि जो भोजन लाया जा रहा है, वह नीति से अर्जित किये हुए अन्न से बना है या नहीं। यह जबरदस्त प्रश्न खड़ा होता है। नीति अनीति में उथल-पुथल हो जाती है। जहां नीति से अर्जित अन्न का भोजन है, वह गृहस्थ के लिये भी शुद्ध है और अनीति का है तो वह गृहस्थ के लिये भी अशुद्ध है। अब यहां यह प्रश्न खड़ा होगा कि जो गृहस्थ के लिये भी अनीति का भोजन है और अशुद्ध है, वह साधु के लिये शुद्ध कैसे गिना जा सकता है? इसका भी शास्त्रकारों ने विश्लेषण दिया है कि गृहस्थ के लिये भोजन अर्जित करने की विधि

अलग है और साधु जो भोजन प्राप्त करता है, उसकी गवेषणा की अपनी विधि अलग है। वैसे अन्न स्वयं शुद्ध या अशुद्ध नहीं होता। उसकी शुद्धाशुद्धि सामग्री जुटाने वाले की नैतिकता पर आधारित होती है।

कल्पना करें कि एक सरकारी अधिकारी हैं। उन्होंने काफी ईमानदारी रखी लेकिन कुछ बेईमानी और अनैतिकता भी कर ली: उन्होंने रिश्तत में लिये हुए पैसों से सामान खरीदा और भोजन तैयार कराया तो वह भोजन उनके और उनके परिवार वालों के लिये अनैतिक व अशुद्ध होगा। किन्तु उनके घर में जो नौकर कार्य कर रहा है, वह अपना काम पूरी ईमानदारी और मेहनत से करता है और वह उस भोजन को करता है तो उसके लिये वह भोजन पूरी तरह नैतिक तथा शुद्ध होगा क्योंकि उसने वह भोजन अपनी मेहनत और ईमानदारी से प्राप्त किया है। इसी तरह साधु सारे दोष टाल कर विधिपूर्वक भिक्षा लेता है तो उसके लिए भी वह भोजन शुद्ध कहलायगा भोजन की शुद्धाशुद्धि का सम्बन्ध उसकी अपनी नैतिकता से रहता है जो उसे प्राप्त करता है।

पूर्णिमा श्रावक के बारे में आपने सुना होगा। उनकी सामायिक विख्यात थी। वे पूर्ण विमलता का स्वरूप लेकर चलते थे। कभी भी उनके मन में चंचलता आती तो वे सोचते कि यह चल-विचल स्थिति क्यों आई है? वे अपनी धर्म सहयोगिनी पत्नी को पूछते कि कहीं अनीति का अन्न तो नहीं आ गया है। एक बार का तो उदाहरण भी है कि उनकी पत्नी बिना पूछे पड़ौसी के घर से आग का छाणा ले आई तो उस दिन श्रावक ने चंचलता महसूस की। कहने का अभिप्राय यह है कि नीति और अनीति से अर्जित अन्न का जीवन पर तदनुसार विशिष्ट प्रभाव अवश्य पड़ता है।

साधु के जीवन में साधना की दृष्टि प्रमुख रहे

आप सोचिये कि पड़ोस के घर से एक आग का छाणा बिना पूछे लाने को भी पूर्णिमा श्रावक ने बड़ा अपराध माना तो आप लोगों को अनुभव करना चाहिये कि आज के सांसारिक व्यवहार-व्यापार आदि में आप लोग क्या कर रहे हैं, नैतिकता का किस रूप में पालन कर रहे हैं तथा वास्तव में जिस अन्न का आप उपयोग कर रहे हैं-वह आपके लिये कितना सुखकारी अथवा अन्यथा सिद्ध होता है? लेकिन साधु-जीवन में तो साधना की ही दृष्टि प्रमुख रहनी चाहिये।

साधु का आहार-विहार सब कुछ इसी साधना की दृष्टि के अनुसार चलना चाहिए। लेकिन इस साधना के निर्वाह में गृहस्थों का भी पूरा सहयोग मिलना चाहिये। यदि गृहस्थ ही आहार को निर्दोष रखें और विवेक दिखावें तो साधु की गवेषणा का काम बहुत सरल हो जायगा। साधु को दोष नहीं लगेगा तो उसकी साधना शुद्ध बनेगी। साधु को कभी प्रमादवश दोष भी लगे उसको उसका प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धिकरण कर लेना चाहिये। साधु तो अपने आहार विहार में पूरी शुद्धता से चले तथा गृहस्थों का उसको पूरा-पूरा सहयोग मिले तो उसकी साधना वास्तविक रूप से विमलता की साधना बन सकती है।

साधु के लिये सम्पूर्ण जीवन साधनामय होता है तो श्रावक के लिये भी बारह व्रतों व बारह प्रकार के तप का उल्लेख है याने कि श्रावक जितने अंशों में विमलता की साधना कर सकता है, उसको अपने जीवन को नैतिक बनाते हुए करनी चाहिये। आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य स्पष्ट है तथा साधु और श्रावक का मार्ग एक ही दिशा का है। विधि साधु की पूर्ण है तथा श्रावक की आंशिक, किन्तु अपने-अपने क्षेत्र में विकास करते हुए विमलता की साधना में उत्कृष्टतम अवस्था प्राप्त की जा सकती है।